सांख्यतत्त्वकौमुदी-दीपिका



❀ ॐ ❀

सांख्यतत्व कौमुदी दीपिका

लेखक—

रसवैद्य पं० लक्ष्मणप्रसाद जी पांडेय

(इलिचपुर, बरार)

सम्पादक व प्रकाशक—

चि० चू० पं० विश्वेश्वरदयालु, वैद्यराज

सम्पादक—'अनुभूत योगमाला'

बरालोकपुर-इटावा

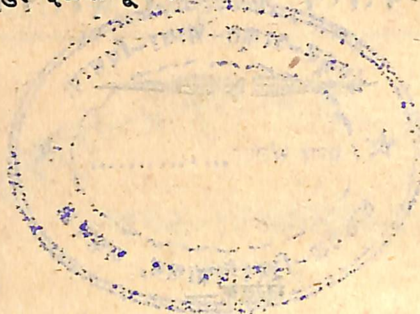
(यू० पी०)

प्रथम वार १०००	सन् १९४१ ई०	मूल्य १॥)

प्रकाशक—

चि० चू० पं० विश्वेश्वरदयालु वैद्यराज

बरालोकपुर-इटावा यू० पी०



मुद्रक—

श्री हरिहर फाइन आर्ट,

बरालोकपुर-इटावा

प्रस्तावना

सांख्य तत्व कौमुदी नामक सांख्यशास्त्र के पारिभाषिक ग्रंथ की हिन्दी भाषा में टीका लिखकर, हिंदी भाषा-भाषी पाठकों के तथा विद्यार्थियों के सन्मुख, उनके उपयोगार्थ आज समर्पण करने का यह सुयोग जिस जगत्पालक अचिंत्य शक्तिस्वरूप जगदम्बा की निरतिशय कृपा प्रसाद से आया है, उस माता के चरणों में प्रथमतः कृतज्ञता बुद्धिव्यक्ति किये बिना नहीं रहा जाता, वह सर्वेश्वरी लेखक व प्रकाशक इन दोनों को ऐसे ही अनेक ग्रंथ लिखने की व प्रसिद्ध करने की शक्ति प्रदान करें और हिंदी पाठकों को ग्रंथ पढ़ने की तथा इस स्वभाषा की सेवा करने की जिज्ञासा से प्रेरित कर यथाशक्ति सहायता देने की सुबुद्धि देवे, ऐसी प्रार्थना पहले ही करके, बाद में सांख्य शास्त्र के विषय में, इस ग्रंथ के विषय में, ग्रंथकार के विषय में, संस्कृत टीकाकार तथा भाषा टीकाकार के विषय में पाठकों के जानकारी के लिये चार शब्द लिखता हूँ।

इस भयंकर संसार चक्र के फेर में असंख्य जीव पड़े हुये हैं, और रात दिन दुख भोग रहे हैं, इनको संसार में बिलकुल सुख मिलता ही नहीं, यह बात नहीं है। किंतु इस दुष्ट संसार में जितना दुःख है, उससे इस सुख की तुलना करके देखने पर सुख तो राई इतना और दुख पहाड़ जैसा भासित होता है, कई भौतिक वादियों को हमारा और शास्त्रकारों का कथन मज़ाक मालूम होगा यह हम जानते हैं, पर इसमें हमारा या हमारे शास्त्रकारों का कुछ भी उपाय नहीं, क्यों कि सत्य बात भी यदि इन सुशिक्षित कहे जानेवाले विचारशील पुरुषों को हास्यास्पद मालूम हो तो इसमें हमारा क्या दोष ? हां ज्यादा से ज्यादा हम इतना और कह सकेंगे कि, प्यारे भाइयो आज इस त्रिकाल सत्य को आप मिथ्या समझकर जो हंसी उड़ाते हो, वही कुछ समय के बाद या कुछ जन्मों के बाद इस सुन्दर तथा रमणीय संसार का पूर्ण अनुभव होजाने पर यह हंसी बिलकुल गुप्त हो जायगी, इस जन्म मरण परम्परारूपी संसार में कितने अगणित व अपरिमेय दुःख भरे पड़े हैं, इसका तन्तोतन्त हिसाब लगाना अशक्य है, यदि थोड़ा सा हिसाब लगाकर देखने

की कोशिश की जाय तो इधर बहुत बड़ा विस्तार हो जाता है, तो ऐसे नाना क्लेश समन्वित दुखी जीवों को देखकर, जिनका हृदय करुणा से भर आया था, वे विष्णुरूपी भगवान देवहूती के गर्भ से कपिलमुनि नाम से अवतीर्ण हुये, इन्हीं को आद्यविद्वान कहते हैं। कपिलमुनि जी ने प्रकृति व पुरुष इन दोनों का विवेक ही जीवोंके दुःखों का अत्यान्तिक नाश का साधन है, ऐसा सिद्धान्त निश्चित करके 'दुख का नाश चाहने वाले अधिकारियों को' यह बात स्पष्टरूप से समझा दी कि यह सृष्टि प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुई है, यह बात जब अधिकारी पुरुषों की समझ में आगई, तब उनको इस सृष्टि के विषय में वैराग्य पैदा हो गया और आखिरी इसी विवेक द्वारा वे त्रिविध दुःखों से मुक्त हो गये, उन अधिकारी विरक्त पुरुषों में 'आसुरी' नामक एक मुनि थे। इनको खुद कपिल मुनि ने स्वबुद्धि बल से रचा हुआ सांख्य शास्त्र का उपदेश किया, इस सांख्य शास्त्र का पहिला सूत्र—"त्रिविध दुःखात्यन्ता भावोऽत्यन्त पुरुषार्थः" है।

यह सांख्य शास्त्र छः अध्यायों में कहा गया है, इसमें कुल ५२६ सूत्र हैं, प्रकृति व पुरुष इनके विवेक को संख्या' कहते हैं, और वैसे ही प्रकृति, महत आदि तत्वों की चौबीस संख्या भी इस शास्त्र में निश्चित की गई है, इसीसे इस शास्त्र को—'सांख्य शास्त्र' ऐसा कहते हैं, आसुरी मुनीनें सम्यक तया इस शास्त्र का परिशीलन करने के बाद पंच शिखाचार्य को सिखाया, इन्होंने ईश्वरकृष्ण नामक अपने—विद्वान शिष्य को इसका उपदेश दिया, तदन्तर ईश्वरकृष्ण जी ने कुल सांख्य शास्त्र के सूत्रों का मर्म सिर्फ सत्तर आर्याछंद में ग्रथित कर दिया, सूत्रस्थ आख्यायिका, निन्दा, आदि त्याज्य भाग को त्याग करके योग्य सतपुरुष कैसे गुण मात्र का ग्रहण कर लिया करते हैं, यह स्वकृति से स्पष्ट कर दिया है, कुल ७२ कारिका आर्या वृत में लिखी गई हैं, उसमें से दो तीन अंत की कारिकाओं में शास्त्र प्रतिपाद्य विषय—तथा शास्त्र की संक्षिप्त शिष्य परम्परा का वर्णन किया है, यह सांख्य कारिका ग्रन्थ समग्र सांख्य शास्त्र का रहस्य समझा देने में समर्थ है, क्योंकि सांख्य शास्त्र के साठ

पदार्थों का उहापोह इसमें भी आ चुका है, इसीसे आज तक भी सांख्य शास्त्र के बराबरी का मान इसको दिया जाता है,

चिकित्सा शास्त्र में जैसे—रोग, रोग निदान, रोगपरिहारोपाय, और रोग निवृत्ति ऐसे चार मुख्य पदार्थ रहते हैं, वैसे ही इस शास्त्र में भी हेय दुख, उसका निदान, उसकी निवृत्ति का उपाय, और दुख निवृत्ति ऐसे चार पदार्थ दिये हैं, इसीका इसमें प्रतिपादन किया है, प्रकृति पुरुष विवेकार्थ प्रवृत्त हुआ यह शास्त्र आद्यावस्था में चेतन व अचेतन ऐसे दो ही पदार्थ हैं, ऐसा सूचित करता है, इन दोनों में से चेतन पुरुष है, और वह प्रत्येक शरीर में भिन्न २ होने से अनेक हैं, ऐसा सांख्य का कहना है, और प्रकृति से आदि लेकर पंचमहाभूत तक तेईस तत्व-अचेतन हैं, परन्तु ये अचेतन जड़ तत्व पुरुष के भोग व मोक्ष के लिये प्रवृत्ति रूप से रहते हैं, जड़ तत्वों के इस प्रवृत्ति का अनादि कारण अविद्या है, इन्हीं बातों का सांगोपांग ऊहापोह इस शास्त्र में किया गया है, षट दर्शनों में सांख्य दर्शन का बड़ा भारी महत्व है, वेदान्त समझने के लिये सांख्य तत्वों का समझ लेना अत्यावश्यक है, यहां तक सांख्य शास्त्र के विषय की संक्षेपतः ज्ञातव्य बातें कह दी गईं, अब सांख्य कारिका के ईश्वरकृष्ण के विषय में कुछ बिचार करेंगे,

ईश्वरकृष्ण नामक कोई महात्मा बड़े विद्वान हो चुके हैं, उनकी बनाई हुई ये बहत्तर कारिका हैं इन्हीं कारिकाओं के ग्रंथ को'सांख्य कारिका' कहते हैं, इनके जन्म काल के व निवास स्थान के बिषय में निश्चितता नहीं हुई है, सिर्फ चीन देश के प्रमाणों से वसुवन्धु के सम कालीन ये थे ऐसा कहा है' पर वसुवंधु का काल भी निश्चित नहीं, अतः इसवी सन के चौथे या पांचवें शताब्दि में इनका होना माना जाता है, पर यह मानना है अंदाजी ही,ऐसा'कीथ' का कथन है [सांख्य सिस्टम] अच्छा इनके बनाये और भी कोई ग्रंथ थे या नहीं कुछ पता नहीं चलता,

वाचस्पति मिश्र—इसके टीकाकार हैं,जो, न्यायशास्त्रके खण्डन खण्डखाद्य,, के रचयिता हैं इनकी टीकायें षड़ दर्शनों पर मिलती हैं इससे ही इनकी विद्वत्ता प्रकट होती है इनके रचे २४ ग्रंथ हैं परन्तु यह कब हुये इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

हिन्दी भाषाकार का परिचय

इस ग्रंथ के हिन्दी भाषा कार का जन्म संवत् १६५० चैत्र कृष्ण १२ भौमवार को तुला लग्न में बैतूल जिलान्तगत भैस देही ग्राम में हुआ है, श्री पयोष्णी पुण्य नदी का यहीं से उद्‌गम हुआ है, मैं गर्गाश्रमी (गेगांसों) पांण्डेयान्तगत हरिनाथ वाली शाखा का हूँ। सन १६१७ में काशी जी से लौटने पर मेरे परम पूज्य पिता रघुवरदयाल ज्येष्ठ भ्राता पं० रामचन्द्र, इन दोनों विद्वानों की सहायता से इस ग्रंथ की भाषा टीका सन १६१६ में पूरी लिख डाली गई।

सुमेरपुर पुर निवासी मेरे पिता पं० रघुबरदयाल वेदान्त शास्त्री भ्रमण करते हुए पुण्य शीला पूर्णा (पयोष्णी) नदी के उद्‌गम स्थान भैंसदेही (जि० बैतूल) में रहने लगे, वहीं पर संवत् १६५० चैत्र कृष्ण १२ भौमवार को तुल लग्न में मेरा जन्म हुआ, प्रायमरी शिक्षा के बाद संस्कृत पढ़ने के लिये बनारस जाना पड़ा, समय पाकर जब मुझे सांख्य तत्व कौमुदी पढ़ने का काम पड़ा, तब प्राचीन पाठ्य प्रणाली से पढ़ाया गया विषय क्लिष्ट तथा दुर्बोध सा जान मैंने सांख्य का पाठ छोड़ दिया सन्, १६१६ में गर्मियों की छुट्टी में घर आ गया पिताजी को जब ज्ञात हुआ की, सांख्य विषय दुर्बोध समझ कर विद्यार्थिगण उस विषय को छोड़ ही देते हैं, अतः हो सके वहां तक सुबोध हिन्दी में इसका अनुवाद होना आवश्यक है अच्छे मुहूर्तमें कार्य प्रारम्भ कर दिया, मेरे बड़े भ्राता व्याकरणचार्य पं०रामचन्द्रजी ने भी मदत देनी स्वीकार की—भाग्य वशात वह अधूरा विषय धीरे २ कई वर्षों तक पूरा न हुआ, जब सन् १६२४ की गर्मियों में मैं फिर घर पर आया, तब यत्र तत्र लिखे पन्ने देख बड़ा दुःख हुआ, बाद को यह फिर लिखी गई और पूर्ण करके खेमराज श्री कृष्णदास जी बम्बई के पास प्रकाशनार्थ उनकी मांग पर भेज दी गई, पर वहां भी यह १०–१२ वर्ष तक पड़ी रही, फिर वहां से वापिस बुला श्रीहरिहर प्रेस बरालोकपुर भेजी गई वहां भी यह एसी पड़ी रहीकि इसके अस्तित्वका ही पता न चला, समयानुसार प्रेसकी सफाईमें यह १२ वर्षबाद निकली तब समयानुसार इसका प्रकाशन किया गया जो आपके सामने है।

रसवैद्य पं० लक्ष्मणप्रसाद पांडेय, इलिचपुर (बरार)

आलोचना

'सांख्य शास्त्र' सरीखे गहन विषय पर कुछ लिखना मेरे लिये सर्वथा अनाधिकार चेष्टा करना है, मेरे परम मित्र पंडित लक्ष्मणप्रसाद जी पांडेय 'आयुर्वेद मनीषी' ने सांख्य शास्त्र के तत्वों को हिन्दी भाषा में करके केवल हिन्दी साहित्य के लिये ही नहीं वरन् संसारके ऊपर जो उपकार कर दिया है वह अतुलनीय है। पंडित जी ने किस परिश्रम से, कैसी २ कठोर परिस्थिति मैं से होते हुये जिस निष्काम बुद्धि से यह कार्य किया है वह सर्वथा सराहनीय है।

शशी ललित कलंक कंटक पद्मनालं।
उदधि जल न पीवं पंडितो निरधनत्व ॥
धनपति कृपणं भाग्य हीनं स्वरूपम्।
सजन जन वियोगी निरविवेकीविधाता ॥

पंडित जी ने जिस योग्यता से इस अनोखे सुन्दर पुष्प का विकास किया है उसे पढ़कर, सुनकर, समझकर साधारण मनुष्य को भी थोड़ी सांत्वना अवश्य प्राप्त होगी। जीवन की जटिल समस्याओं का सरल समाधान किया है। इसके अध्ययन से संसार का सामान्य ज्ञान हो सकता है। पाठकों को भाषाकार पंडित जी का सूक्ष्म परिचय करा देने में मुझे आज अत्यन्त हर्ष हो रहा है पंडित जी की विद्वत्ता संस्कृत साहित्य का प्रेम और प्राणीमात्र पर दया भाव और निःकाम भक्ति उनके नित्य के चरित्रों से मुझे ज्ञात हुये हैं, जितना स्वार्थ, त्याग, जितना परोपकार पंडित जी कर रहे हैं वह अनुसरणीय है। केवल समाज सेवा के अभिप्राय से आपने यह अनुवाद किया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके परिश्रम की बेल प्रति दिन फूलती फलती रहेगी और पाठक इस ग्रन्थ को अपनाकर, उनके उत्साह को अवश्य बढ़ावेंगे।

रामनारायनलाल दुबे एक्स्ट्रा असिस्टेंन्ट
अग्रीकलचर, अमरावती

प्रकाशक

सांख्य शास्त्र जैसे दुर्बोध विषय का ज्ञान साधारण परीक्षार्थियों को भले प्रकार नहीं होता देख इस ग्रन्थ की भाषा टीका सुबोध समझ प्रकाशित करने का विचार किया गया, मेरा विश्वास है कि इस टीका के आधार से विद्यार्थीगण सांख्य के तत्वों को समझ सकेंगे। और जिस सांख्य को दुर्बोध समझ लोग त्यागकर उस विषय के ज्ञान से ही वंचित रह जाते थे वह अब एसा न होगा। सांख्य और योग दोनों ही एक जैसे हैं।

यथा—सांख्ययोगौपृथग्बालाः प्रवदन्तिनपंडिताः।
एक मप्यस्थितः सम्यगुभयोः फलमश्नुते॥ गीता अ० ५ श्लोक ४
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरनुगम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सः पश्यति॥ अ० ५

इसी लिये इस शास्त्र का जानना प्रत्येक को जरूरी था। इस लिये यह व्यय एवं श्रम किया गया है। आशा है सभी लाभ उठा हमारे श्रम एवं व्यय को सार्थक करेंगे, यदि आपको कुछ भी लाभ हुआ तो हम अपने को धन्य समझेंगे और व्यय एवं श्रम को भी सार्थक समझेंगे।

—प्रकाशकः



॥ श्री गणेशायनमः ॥

॥ अथ सांख्य तत्व कौमुदी दीपिका ॥

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः ।
अजायेतां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्त भोगांनुमस्तान् ॥

अन्वय—वयं बह्वी रनेक विधाः प्रजाः सृजमानां परिणम मानां लोहित शुक्ल कृष्णां (लोहिता चासौ शुक्ला चेति लोहित शुक्ला सा चासौ कृष्णा चेति लोहित शुक्ल कृष्णा ताम्)एकां सजातीय रहितां अजां नमामः । ये अजाः अनादिनः पुरुषाः जुषमाणां सेवमानां तां प्रकृतिं भजन्ते अनुसरन्तीत्यर्थः, तान् पुरुषान् वयं नुमः, येच अजाः प्रत्यात्म प्रत्यया पुरुषाः भुक्त भोगां (भुक्तः निष्पादितः भोगो ययासा तां) एनां जहति-परित्यजन्तीत्यर्थः, तान् (विवेक्तिनः) पुरुषान् वयं नुमः ।

अर्थ—हम अनेक प्रकार की प्रजाओं को निर्माण करने वाली रज, शुक्ल तम स्वरूपी एक नित्य प्रकृति को प्रणाम करते हैं, तद्वत् जो अज पुरुष उसका सेवन करते हैं, तथा विवेक ज्ञान प्राप्त होने पर भोगी हुई प्रकृतिका त्याग करते हैं, उन पुरुषों को भी हम प्रणाम करते हैं ।

अब टीकाकार वाचस्पति मिश्र सांख्य मत प्रवर्तक आचार्यों को यथा क्रम से प्रणाम करते हैं ।

कपिलाय महामुनये शिष्याय तस्य चासुरये ।
पञ्च शिखाय तथेश्वर कृष्णायैतेनमस्यामः ॥ २ ॥

कपिलाय महा मुनये च तस्य शिष्याय आसुरये मुनये तस्य शिष्याय पञ्च शिखाय, तथा ईश्वर कृष्णाय एते नमस्यामः (वय मित्य ध्याहार्यम्)

अर्थ—कपिल महा मुनि को तथा उनके शिष्य आसुरि मुनि को उनके शिष्य पञ्चशिखमुनि को तथा उनके शिष्य ईश्वर कृष्ण को हम प्रणाम करते हैं ॥ २ ॥

इह खलु प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् प्रतिपादयिताऽवधेय वचनो भवति प्रेक्षावताम्।

अर्थ—इस व्यवहार भूमि में बुद्धिमानों को जो अर्थ जानने की इच्छा हो, यदि वही अर्थ बतलाया जाय तो वे बतलाने वाले का सत्कार करते हैं।

अप्रति पित्सितं तु प्रतिपादयन् नायं लौकिको नापि परीक्षक इति प्रेक्षावद्भि रुन्मत्तवदुपेक्ष्येत।

अर्थ—और उन (बुद्धिमानों) को जिस ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, वही ज्ञान यदि कोई प्रतिपादन करे, तो वे वक्ता को अव्यवहारज्ञ तथा तत्व ज्ञान रहित बतला कर उसकी तरफ आकर्षित नहीं होते अर्थात् निरादर दृष्टि से देखते हैं।

सचैषां प्रति पित्सितोऽर्थो, योज्ञातः सन् परम पुरुषार्थाय कल्पत, इति प्रारिप्सित शास्त्र विषय ज्ञानस्य परम पुरुषार्थ साधन हेतुत्वात् तद्विषय जिज्ञासामवतारयति।

अर्थ—जो समझने पर परम पुरुषार्थ प्राप्त करा सकता है, वही अर्थ बुद्धिमानों को अपेक्षित है, इसी से जिस शास्त्र को आरम्भ करने की हम इच्छा करते हैं, वह परम पुरुषार्थ साधनी भूत होने से उस विषय की जिज्ञासा होना कैसे शक्य है, वह इस प्रथम कारिका में बतलाया जाता है।

दुःखत्रया भिघाताद्जिज्ञासातदपघातकेहेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्ता त्यन्ततोऽभावाद् ॥ १ ॥

अर्थ—अन्तःकरण वर्ती त्रिविध दुःखों से चैतन्य शक्ति को भी अपाय होता है, ऐसी भावना उत्पन्न होने पर इनका प्रतिकार किन उपायों से होगा, यह जानने की अभिलाषा होना सहज सिद्ध बात है, यदि कोई कहे कि लोक सिद्ध दृष्ट उपाय सुकर होते हैं, तो शास्त्रीय उपाय का क्या काम? परन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि लौकिक उपायों से दुःख अवश्य ही निवृत्त हो जायेगा, ऐसा नहीं कह सकते, अतएव दुःखत्रयों के निवृत्ति होने के लिये शास्त्रीय उपायों को काम में अवश्य लाना चाहिये।

एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत यदि दुःखं नाम जगति न स्यात् सद्वा न जिहासितं, जिहासितं वाऽशक्य समुच्छेदम्, अशक्य समुच्छेदता च द्वेधा, दुःखस्य नित्यत्वाद्वा तदुच्छेदोपाया परिज्ञानाद्वा, शक्य-समुच्छेदत्वेपि च शास्त्र विषयस्य ज्ञानस्यानुपायत्वाद्वा, सुकरस्योपायान्त रस्य सद् भावाद्वा। तत्र न तावत् दुःखं नास्ति, नाप्य जिहासितं इति, अत उक्तं "दुःखत्रयाभिघातात्" दुःखानां त्रयं, तत्खलु आध्यात्मिक माधिभौतिक माधिदैविकंच।

इस शास्त्र के विषय में विद्वानों की जिज्ञासा नहीं होवेगी, ऐसा हम प्रतिपादन करते परन्तु कब ? यदि संसार में दुःख इस पदार्थ का अभाव होता ? अथवा दुःख होकर भी उसका नाश किसी को अभीष्ट नहीं होता। अथवा दुःख नाश करने की इच्छा होते हुये भी दुःख नाश करना अशक्य होता (क्यों कि शास्त्रों में दुःख पदार्थ नित्य बतलाया गया है अर्थात् नित्य होने से नाश होना अशक्य है ? तथा दुःख नाश का उपाय न मालूम होनेसे भी अशक्य ही है) तीसरा विकल्प कहते हैं, अथवा दुःख नाश जब भी शक्य है तो भी शास्त्र विषय का ज्ञान होना यह सच्चा उपाय न होता। ४ अथवा कोई दूसरा सुलभ उपाय होता, तब हम प्रतिपादन करते, परन्तु उपरोक्त प्रकार में से यहाँ पर एक भी नहीं है, यदि कहें कि कैसे ? तो नीचे लिखा जाता है, संसार में दुःख है ही नहीं, अथवा होकर भी उसका नाश किसीको अभीष्ट नहीं, ऐसा तो कह ही नहीं सकते, क्यों कि इस संसार में आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, तीन प्रकारका दुःख, अनुभव से जाना जाता है।

तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसंच। शारीरं वात पित्त-श्लेष्मणां वैषम्य निमित्तं, मानसं काम, क्रोध, लोभ, मोह, भयेर्ष्या-विषाद विषय विशेषादर्शननिबन्धनम्।

अर्थ—उपरोक्त दुःखत्रयों में पहिला जो आध्यात्मिक दुःख है उसके दो भेद हैं, शारीर और मानस, शरीरान्तर्गत वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों के विषमता से होने वाला दुःख शारीरिक दुःख कहलाता है, तथा काम, क्रोध,

लोभ, मोह, भय, ईर्षा, विषाद इष्ट वस्तु का अदर्शन इत्यादिकों के योग से होने वाला दुःख मानस कहलाता है।

सर्वं चैतद् आन्तरोपाय साध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्।

यह सब शरीर के आन्तरिक उपाय से साध्य होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं।

बाह्योपाय साध्यं च दुःखं द्वेधा, आधिभौतिकं आधिदैविकं च।

शरीर को छोड़कर उसके बाहरी उपाय द्वारा साध्य-दुःख के आधिभौतिक तथा आधिदैविक ऐसे दो प्रकार हैं।

तत्राधिभौतिकं-मानुष पशु सरीसृप स्थावर निमित्तम्, आधिदैविकं-यक्ष राक्षस विनायक ग्रहावेश निबंधनम्।

उक्त प्रकार में-मनुष्य, पशु, मृग,पक्षी,सर्प, वृक्षादि स्थावर पदार्थ इनके योग से होने वाला दुःख आधिभौतिक दुःख है, तथा यक्ष, राक्षस, विनायक ग्रह इनके योग से होने वाला जो दुःख है, वह आधिदैविक दुःख है।

तदेतत्प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजः परिणाम भेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्। तदनेन दुःख त्रिकेणाऽन्तः करण वर्त्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतयाऽभिसम्बन्धोऽभिघात इति। एतावता प्रतिकूल वेदनीयत्वं जिज्ञासा हेतुरुक्तः। यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखं तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुमित्युपरिष्टान्निवेदयिष्यते, तस्मादुपपन्नं तदपघातके हेतौ इति, तस्य दुःख त्रयस्यापघातकस्तदपघातकः, उपसर्जनस्यापि बुद्धयासंन्निकृष्टस्य तदा परामर्शः, अपघातकश्चहेतुः शास्त्रप्रतिपाद्यो नान्य इत्याशयः।

उपरोक्त त्रिविध दुःख प्रत्येक प्राणी के अनुभव में आने योग्य है तथा वे दुःखत्रय रजोगुण का ही एक प्रकार का परिणाम है, इस कारण वे दुःखत्रय नहीं हैं, ऐसा किसी काल में नहीं कह सकते, तथा अन्तःकरण के ऊपर धर्मरूप से रहने वाले इन त्रिविध दुःखों से चैतन्य शक्ति का "यह वस्तु हमको अनिष्टप्रद है" इस भावना से सम्बन्ध होने के कारण इस अनिष्ट दुःख का नाश हो, ऐसी जिज्ञासा होना योग्य ही है, दुःख यह रजोगुण का कार्य है, और रजोगुण नित्य है अतः नित्य होने से कार्य का नाश होना यह बात

अशक्य है। अर्थात् कारण का अस्तित्व रहने से कार्य का भी अस्तित्व रहता ही है क्योंकि—तत्सत्वे तत्सत्वम् न्याय से सिद्ध ही है कि, कारण रहते हुये कार्य का सर्वथैव नाश नहीं होता। यह सत्य है, परन्तु उसका अभिभव × अर्थात्—प्रतिकार होना शक्य है, उस दुःख का प्रतिकार कैसे कर सकते हैं, इसका विवेचन आगे ४४ वीं कारिका में बतालाया जायगा।

अत्राऽऽशङ्कते–"दृष्टेसाऽपार्थाचेत्" इति।

अयमर्थः–अस्तुदुःखत्रयं जहासितं च तद्भवतु, भवतु च तत् शक्यहानं, सहतां च शास्त्रगम्य उपायस्तदुच्छेत्तुं तथाप्यत्रप्रेक्षावतां न युक्ता जिज्ञासा, दृष्टस्यैवोपायस्य तदुच्छेदकस्य सुकरस्य विद्यमानत्वाद्, तथाच लौकिकानामाभाणकः—"अर्केचेन्मधु विन्देतकिमर्थं पर्वतं व्रजेद्, इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्" इति॥

सन्ति चोपायाः सहस्रशः शतशः शारीर दुःख प्रतिकारायेषत्कराभिषजांवरै रुपदिष्टाः। मानसस्यापि सन्ताप प्रतिकाराय मनोज्ञ स्त्री पान भोजन विलेपन वस्त्रालंकारादि विषय प्राप्तिरुपायः सुकरः, एवमाधिभौतिकस्य दुःखस्य नीति शास्त्राभ्यास कुशलता निरत्ययस्थानाध्यासनादिः प्रतीकार हेतुरीषत्करः, तथाऽऽधिदैविकस्यापि दुःखस्य मणि मन्त्रौषधाद्युपयोगःसुकरः प्रतिकारोपायइति,

अर्थ—यदि यहां पर कोई ऐसी शंका करे, कि जब भी दुःख है, तथा यह नाशवान भी है, और उसका प्रतिकार भी शक्य है तथा दुःख प्रतिकारार्थ शास्त्रीय उपाय भी है तब लोक प्रसिद्ध सुलभ उपायों को छोड़कर अनेक जन्मों में वह भी महत्कष्ट से साध्य होने वाले शास्त्रीय उपायों के झंझट में कौन पड़ेगा? क्योंकि समाज में भी कहावत है कि गृहाङ्गण में जो शहत मिल जावे, तो फिर उसके लिये पर्वत पर कौन जावेगा? वैसे ही अभीष्टार्थ यदि सहज ही में सिद्ध हो, तो उसके लिये ऐसा कौन

×अभिभव शब्द का अर्थ यही है कि उस (दुःख) के नाश करने की सामग्री का संग्रह करने पर होने वाले दुःख का प्रतिकार। इस कारण यह बात सिद्ध होगई कि यद्यपि दुःख नित्य है तब भी उसका प्रतिकार हो सकता है और उसके लिए शास्त्रीय उपाय भी हैं, इस कारण अपघात निवरणार्थ जिज्ञासा युक्त है।

विद्वान है जोकि यत्न करेगा ? "अब दुःख प्रतिकारार्थ सुलभ दृष्ट उपाय बतलाते हैं" शारीरिक दुःख के प्रतिकारार्थ उत्तम वैद्यों के बतलाये हुये सैकड़ों उपाय हैं और मानसिक दुःख निवारणार्थ भी उत्तम स्त्री, अन्न पान, अभ्यंग, वस्त्र, अलंकार इत्यादि उपाय हैं तथा इनके प्राप्त होने से दुःख प्रतिकार होना शक्य है। ऐसे ही—आधि भौतिक दुःख के प्रतिकारार्थ नीति शास्त्राभ्यास निपुणता, शान्त स्थान में वासतव्य इत्यादि सहज उपाय हैं और आधि दैविक दुःख के लिये मंत्र, मणी, औषध इत्यादि उपाय अति सुलभ हैं और प्रतिकार भी तुरन्त हो सकता है इस कारण से शास्त्रीय उपायों की जिज्ञासा होना अयुक्त है "परन्तु इन लौकिक उपायों से अभिलषित दुःख निवृत होना हिम जल तुल्य है, किन्तु यह स्थूल दृष्टि वालों को क्या मालूम।

निराकरोति–'न' इति, कुत:–एकान्तात्यन्ततोभावाद्' एकान्त:–दु:खनि वृत्तेरवश्यम्भाव:, अत्यन्त:–निवृत्तस्य दु:खस्य पुनरनुत्पाद: तयोरेकान्तात्यन्तयोरभाव:, एकान्तात्यन्ततोऽभाव इति, षष्ठी स्थाने सार्व विभक्तिकस्तसि:,

अर्थ—पूर्वोक्त शंकाओं का निराकण करते हैं कि यह पूर्वोक्त स्थूल दृक् मनुष्य कृतविधान ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्ट उपाय हैं परन्तु उन उपायों से दुःख निवृत अवश्यमेव होगा ही, ऐसा नहीं कह सकते यदा कदाचित् होभी जावे तो भी उस दुःख की तथातत्सदृश अन्य दुःखों की उत्पत्ति नहीं होवेगी ऐसा अबाधित सिद्धान्त नहीं कह सकते, अस्तु, प्रकृति शास्त्र को दुःख निवृत्ति ही मात्र अभीष्ट नहीं है किन्तु एकान्तिकात्यन्तिक दुःख निवृत्ति अभीष्ट है। एकान्त कहते हैं अवश्यमेव दुःख निवृत होने को' और 'अत्यन्त' कहते हैं एक बार निवृत्त दुःख के पुनः न उत्पन्न होने को' तो इन दोनों बातों को दृष्ट उपायों में अभाव है अतः मूल में "एकान्ता त्यन्ततो भावाद्" कहा है, यहां षष्ठी के स्थान में 'तसि:' है, नकि पञ्चम्यन्त 'तसिल्' क्योंकि यहां आकृति गण होने से 'आधादिभ्य उपसंख्यानम् ५। ४।४४। इस सूत्र से षष्ठी स्थान में तसि है ऐसा जानना।

एतदुक्तं भवति—यथा विधि रसायनादि कामिनी नीति शास्त्रा भ्यास मन्त्राद्युपयोगेपि तस्य तस्याध्यात्मिकादे दु:खस्य निवृत्तेर

दर्शनादनैकान्तिकत्वं, निवृत्तस्यापिपुनरुत्पत्ति दर्शनादनात्यन्तिकत्वम्, इति सुकरोऽप्यैकान्तिकात्यन्तिक दुःख निवृते र्न दृष्ट उपाय इति नापार्था जिज्ञासेत्यर्थः

अर्थ—यथाविधि रसायन, कामिनी नीति शास्त्राभ्यास, मणि, मंत्रादि यद्यपिलौकिक उपाय सुकर हैं तथापि आध्यात्मिक दुःख निवृत्यर्थ उनकी कुछ भी उपयोगिता नहीं देखी जाती इसी कारण इनका वे उपाय 'अनैकान्तकत्व' कोटी में समझना चाहिये। क्वचित् स्थल में उनकी उपयोगिता भी देखी जाती है परन्तु दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती अतएव इनको अनात्यन्तिकत्व, कहते हैं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार के दोषों द्वारा ग्रस्त होने से (मृगजलवत्)निरुप योगी दृष्ट उपायों के झगड़े में न पड़ कर विद्वानों को शास्त्रीय (आध्यात्मिक) उपाय आवश्यकीय है।

यद्यपि दुःखममङ्गलं तथापि तत्परिहारार्थत्वेन तदवघातो मङ्गलमेवेति युक्तं शास्त्रादौतत्कीर्तनमिति ॥ १ ॥

विद्वान शास्त्र के आरंभ में मंगलाचरण करें, यह बात शिष्टाचार से तथा श्रुति प्रमाण से प्रति पादित की गई है "यथा श्रुतिः—समाप्ति कामो मंगल माचरेत्" समाप्ति की इच्छा करने वाले मंगलाचरण करें, यह विधि वाक्य है परन्तु प्रस्तुत शास्त्र के आदि में 'दुःख' यह अमंगल उच्चारण उक्त प्रमाण से विरुद्ध है ऐसा क्यों ? इस बात पर टीकाकार पं० वाचस्पति मिश्र जी कहते हैं कि यद्यपि दुःख 'शब्द' अमंगल वाची है तथापि यहां पर दुःख शब्द 'दुःखार्थवाची' न होकर दुःख परिहार कारणत्व से प्रयोग किया जाने के कारण दुःख शब्द सुखार्थ वाची हो गया' (यद्यपि शब्द रूप में परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु अर्थ परिवर्तन सुखार्थ को ही प्रति पादन कराता है) इस कारण शास्त्रादि में जो कहा गया है वह प्रशस्त है।

स्यादेतद्माभूद्दृष्टउपायो वैदिकस्तु ज्योतिष्टोमादिः संवत्सर पर्यन्तः कर्मकलापस्तापत्रयमेकान्तमपनेष्यति, श्रूयते हि "स्वर्ग कामो यजेत्" इति।

परन्तु इस कथन पर मीमांसकों का ऐसा कहना है कि दृष्ट अर्थात् लौकिक उपाय तापत्रय उन्मूलन में (नाश करने में) यदि समर्थन नहीं है तो नहीं सही किन्तु ज्योतिष्टोमादि संज्ञक यज्ञों से लेकर सहस्र सम्बत्सर संज्ञक यज्ञ तक जो वेदोदित कर्मकलाप (समूह) है वह तो निश्चय करके त्रिविध दुःखों को समूल नाश करेगा, क्योंकि जिसको स्वर्ग की इच्छा हो वो यज्ञ करे, ऐसा वैदिक विधान है।

स्वर्गश्च—"यन्न दुःखेन संभिन्नं नचग्रस्त मनंतरम्। अभिलाषो पनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्" इति दुःख विरोधी सुख विशेषः, सच स्व सत्तया समूलघातमपहन्ति दुःखं न चैष क्षयी, तथाहि श्रूयते "अपामसोमममृता अभूम" इति तत्प्रक्षये कुतोऽस्यामृतत्व सम्भवः

अर्थ—स्वर्ग शब्द का अर्थ यह है कि दुःख के विरुद्ध रहने वाला एक प्रकार का सुख। क्योंकि तन्त्रवार्तिक में 'कुमारिल भट्ट' ने कहा है (यन्न दुःखनेत्यादि) जिसमें मिला हुआ दुःख न होवे जिसको कुछ काल तक दुःख स्पर्श नहीं होवे तथा जो अत्यन्त अभिलाषा से प्राप्त किया जाता है वही सुख 'स्वर्' इस पद का आस्पद (स्थान) है, अर्थात् इसीको स्वर्ग कहते हैं, ऐसा यह स्वर्ग अपनी सत्ता से दुःख को समूल उखाड़ डालता है, (नच) कारण—'हम सोमरस को पीकर अमर हुये' इस अर्थ की विधायक श्रुति है, (तत्प्रक्षये) यदि स्वर्ग क्षयी (नाशवान) होता तो वहाँ पर अमरत्व का लाभ कैसे होता ?

तस्माद् वैदिकस्योपायस्य तापत्रयप्रतीकार हेतोर्मुहूर्तयामा होरात्रमास संवत्सरादि निर्वर्तनीयस्यानेक जन्म परम्परया ससम्पाद नीयाद्विवेकज्ञानादीषत्करत्वात्पुनरपिव्यर्था जिज्ञासेत्याशंक्याह,

अर्थ—(तस्मात्) जिस कारण से त्रिविध दुःखों के प्रतिकारार्थ कारण होने वाला यह वैदिक उपाय मुहूर्त, (दो घटी) प्रहर, अहोरात्र, मास, वर्ष इत्यादि कालों में से कोई एक काल में साध्य होने वाला होने के कारण अनेक जन्म परम्परा से साध्य होने वाले विवेक ज्ञान की अपेक्षा सुलभ है, अर्थात् हमारे वैदिक उपाय सम्पादन करने के लिये दो घटी भी काफी है, परन्तु आपका

विवेक ज्ञान जन्म परम्परा खर्च किये बिना प्राप्त नहीं होता, तस्मात् आपके शास्त्र में प्रतिपादित उपाय की जिज्ञासा होना फिर भी व्यर्थ है ।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशय युक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

अर्थ—जब कि वह वैदिक उपाय अविशुद्धि (मलीन)क्षय,(नाशवान) तथा अतिशय आदि दोष युक्त है, तब वैदिक कर्म कलाप भी लौकिक उपाय के सदृश ही है और ऐसा होने के कारण उस दोष युक्त वैदिक उपाय से विपरीत अर्थात् अशुद्धता रहित हमारा वैदिक उपाय ही अति उत्तम है क्योंकि इसकी (हमारे शास्त्रीय उपाय की) उत्पत्ति व्यक्त (व्यक्तकार्य) अव्यक्त (कारण) तथाज्ञ (चैतन्य पुरुष) इनके विवेक ज्ञान से होती है ।

गुरु पाठादनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेदः, एतदुक्तं भवति–श्रूयत एव परं न केनापि क्रियत इति, तत्रभव आनुश्रविक इति, तत्र प्राप्तो ज्ञात इति यावत् 'आनुश्रविकोऽपि कर्म कलापो दृष्टेन तुल्यो वर्तत इति' ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिक दुःख प्रतिकारानुपायत्वस्योभयत्रापितुल्यत्वात् ।

अर्थ—(गुरु) गुरु पाठ के अनन्तर जो श्रवण किया जाता है अर्थात् जिसका केवल गुरु परम्परा से श्रवण होता है तथा कोई व्यक्ति विशेष से ग्रथित नहीं किया जाता, वही अनुभव अर्थात् वेद है (तत्रेति) उसमें रहने वाला या उससे मिला हुआ या उससे प्राप्त किया गया जो कर्म समूह है, वह 'आनुश्रविक' है । परन्तुवह आनुश्रविक कर्म समूह भी लोक सिद्ध उपाय सदृश ही है,(ऐकान्तिकेति) क्योंकि त्रिविध दुःखों का नियमसे तथा समूल नाश करने में (उपयोगिता) कारिणीभूत न होना यह दोष उभयत्र सदृश ही है ।

यद्यपि चाऽऽनुश्रविक इति सामान्येनाभिहितं तथापि कर्म कलापाभिप्रायंद्रष्टव्यं विवेक ज्ञानस्याप्यानुश्रविकत्वात् । तथाच श्रूयते–'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः' (प्रकृतितो विवेक्तव्यः) 'न स पुनरावर्तत' इति ।

अर्थ—यद्यपि इस कारिका में आनुश्रविक अर्थात् वैदिक ऐसा यद्यपि सामान्यतः निर्देश किया है, तथापि उस शब्द का 'कर्मकलाप' मात्र अभिप्राय

समझना अर्थात् वैदिक कर्म समूह मात्र दुःखोच्छेद के लिये निरुपयोगी है, अन्य भाग नहीं, क्योंकि विवेक ज्ञान यह भी तो आनुश्रविक ही है, जैसे वेद ही ने विवेक ज्ञान विषय में "अये मैत्रेयी आत्मा को जानना चाहिये" ऐसा विधान किया है, आत्मा को जानना इसका अर्थ आत्मा को प्रकृति से भिन्न समझना ऐसा है (न स) तद्वत् "जो आत्मा को जानता है, वह पुनः जन्म मरण की परम्परा में नहीं गिरता" ऐसी श्रुति आत्म ज्ञान का परम फल बतलाती है।

अस्यां प्रतिज्ञायां हेतुमाह—"सह्यविशुद्धिक्षयातिशय युक्तः" अविशुद्धिः–सोमादि यागस्यपशु बीजादिवध साधनता यथाह स्म भगवान पञ्च शिखाचार्यः–"स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्ष" इति ।

अर्थ—कर्म समूह यह दुःखोच्छेदके लिये निरुपयोगी है,ऐसी जो प्रतिज्ञा की गई है तो उस प्रतिज्ञा करने मात्र ही से मीमांसक संशय रहित न होवेंगे, यह जान कर उसका कारण बतलाते हैं, (सह्य) वह वैदिक उपाय अविशुद्ध, क्षय, अतिशय इन तीन दोषों से युक्त है (अविशुद्धिः) सोम यागादि सत्र, पशुओं की हिंसा, बीजों का नाश इत्यादि दोष युक्त कर्मों के सहाय से साध्य होता है, बस यही उसकी (अविशुद्धि) अपवित्रपना है, जैसे भगवान पञ्च शिखाचार्य जी ने वैदिक कर्म समूह को स्वल्प संकर, सपरिहार तथा सप्रत्यव मर्ष ऐसा बतलाया है, अब प्रत्येक शब्दों का अर्थ बतलाता हूं—

स्वल्पः संकरः–ज्योतिष्टोमादि जन्मनः प्रधानापूर्वस्य पशु हिंसादि जन्मनाऽनर्थहेतुनाऽपूर्वेण ।

सपरिहारः–कियतापि प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः, अथ प्रमादतः प्रायश्चित्तमपि नाचरितं प्रधान कर्म विपाक समये सविपच्यते तथापि यावदसावनर्थं सूते तावत् स प्रत्यवमर्षः–प्रत्यवमर्षेणसहिष्णुतया सह-वर्तत इति, मृष्यन्तेहि पुण्य संभारोपनीत स्वर्ग सुधा महाह्रदावगाहिनः कुशलाः पाप मात्रोपपादितां दुःख वह्नि कणिकाम् ।

अर्थ—(स्वल्प संकर) स्वल्प संकर का अर्थ यह है कि ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से उत्पन्न होने वाले प्रधान अपूर्व का तथा पशु हिंसादिकों से उत्पन्न

हुआ अनर्थ कारक स्वल्प अपूर्व से संसर्ग होना अर्थात् मेल होना स्वल्प संकर कहलाता है, अर्थात् ज्योतिष्टोमादि यज्ञों करके उत्पन्न होने वाला प्रधानीभूत धर्म का पशु हिंसादि अनर्थ कारक अप्रधानीभूत अधर्म का एक समानाधिकरण में रहना ही संकर कहलाता है, पुण्य की अपेक्षा अल्प होने से स्वल्प कहा है।

(सपरिहारः) बहुत से प्रायश्चित्तों द्वारा उसका परिहार (निष्कृति) हो सकता है, परन्तु प्रमाद से या स्मृति विभ्रमसे भूल कर प्रायश्चित्त न किया गया तो प्रधान कर्म के विपाक समय में अर्थात् मुख्य कर्म का स्वर्गादिक फल जिस समय प्राप्त होता है, उसी समय अप्रधान हिंसाजन्य अधर्म भी दुख रूप से अनुभव करने में आता है, परन्तु यद्यपि ऐसा प्रकार है, तथापि यावत्काल पर्यन्त वह अनर्थ उत्पन्न करते रहे, तावत् काल पर्यन्त वह सप्रत्यव मर्ष रहता है, अर्थात् सहिष्णुता के साथ रहता है, सारांश फल भोगने वाला पुरुष उसको सहता है,

(मृष्यन्तेहि) चिरकालिक पुण्य संचयसे प्राप्त स्वर्ग रूपी अमृत सरोवर में स्नान करने वाले कुशल कर्म ही अल्प पाप से प्राप्त दुःखाग्नि की चिनगारी को सहन करते हैं अर्थात् बहुत से सुख राशि के सामने दुःख कणिका कुछ भी मालूम नहीं पड़ती, यहां तक पूर्वोक्त पंच शिखाचार्य का मत बतलाया गया, तथा उससे वैदिक कर्म समूह अविशुद्ध है यह निश्चित हुआ, परन्तु इस पर मीमांसकों की कोटि नहीं है ऐसा नहीं, जो कोटि है वह आगे बतलाई जाती है, यदि मीमांसक कहें कि—

न च "माहिंस्यात्सर्वा भूतानि" इति सामान्य शास्त्रं विशेष शास्त्रेण "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेन बाध्यत इति युक्तम्।

अर्थ—किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो यह सामान्य शास्त्र (अग्नि षोमीयं पशुमालभेत) अग्निष्टोम सम्बन्धी पशुओं की हिंसा करे, इस विशेष शास्त्र से बाधित होता है, परन्तु—

विरोधा भावाद्, विरोधेहि वलीयसा दुर्बलं बाध्यते न चेहास्ति कश्चित् विरोधः भिन्न विषय त्वात्, तथा हि–"नहिंस्याद्" इति निषेधेन हिंसाया अनर्थ हेतु भावो ज्ञाप्यते न त्वक्रत्वर्थत्वमपि 'अग्नीषोमीयं

पशुमालभेत" इत्यनेनवाक्येनच पशुहिंसायाः क्रत्वर्थत्वमुच्यते, नानर्थहेतुत्वा भावः, तथासति वाक्य भेद प्रसंगाद् ।

अर्थ—यह मीमांसकों का कथन हमको युक्त मालूम नहीं पड़ता, क्योंकि उपरोक्त सामान्य तथा विशेष वाक्य में हमको किंचित् भी विरोध नहीं देख पड़ता, अतः वे जैसा कहते हैं, वैसा यहां नहीं है, कारण जिन दोनों में विरोध हुआ करता है, उनमें से जो बली होता है, वह दुर्बल को बाधा किया करता है, ऐसा नियम तथा अनुभव भी है, परन्तु उपरोक्त वाक्यों में विरोध न होकर उनका भिन्न २ विषय है अर्थात् दोनों का विषय भिन्न २ होने के कारण किसी तरह का विरोध नहीं है, यदि कहो कैसे तो बताता हूं, "किसी प्राणी की हिंसा मत करो" यह निषेध हिंसा को अनर्थ हेतुत्व सूचित कराता है-अर्थात् हिंसा यह अनर्थोत्पादक है, परन्तु यज्ञ के उपयोगी नहीं है, ऐसा सूचित नहीं कराता तथा अग्निष्टोमयज्ञ में हिंसा करे' यह जो दूसरा वाक्य है, वह यह सूचित करता है कि, पशुओं की हिंसा यज्ञ के उपयोगी है, बस इतना ही कहना है परन्तु उससे अनर्थ नहीं होता ऐसा कुछ वह नहीं कहता क्यों कि वह यह भी सूचित करता है कि ऐसा यदि मान लिया जाय तो वाक्य भेद होवेगा, इस कारण से—

न चाऽनर्थ हेतुत्व क्रतूपकारकत्वयोः कश्चिद्विरोधोस्ति, हिंसाहि पुरुषस्य दोष मावहयति, क्रतोश्चोपकरिष्यतीति,

अर्थ—हिंसा अनर्थ का हेतु होना तथा यज्ञ के उपयोगी होना, इन दोनों में किसी तरह का विरोध नहीं है, इस उपरोक्त शास्त्रार्थ से—हिंसा पुरुष को दोषी भी करेगी, तथा यज्ञ के उपयोगी भी होवेगी यह सिद्ध हो चुका, अस्तु, मूल कारिका में जो "क्षयातिशय" कहा अब वह वैदिक उपाय क्षय तथा अतिशय दोष युक्त कैसे हैं, यह बतलाते हैं ।

क्षयातिशयौच फलगतावप्युपाय उपचरितौ, क्षयित्वं च स्वर्गादेः सत्वेसति कार्यत्वादनुमितम् ।

क्षय (नाश) तथा अतिशय ये दोष वस्तुतः स्वर्गादि फलों में विद्यमान रहते हैं, न कि यज्ञों में, परन्तु उन्हीं दोषों का

यज्ञ में उपचार किया है। जैसे—सिंहोमाणवकः यह प्रयोग माणवक (किसी पुरुष का नाम) सिंह न होते हुये भी कुछ साम्यता के कारण किया जाता है। तद्वत् ही यहां पर समझना।

ज्योतिष्टोमादयः स्वर्गमात्रस्य साधनं वाजपेयादयस्तु स्वाराज्यस्तेत्यतिशय युक्तत्वम् परसम्पदुत्कर्षोहि हीनसम्पदं पुरुषंदुःखाकरोति।

"अपाम सोमममृता अभूम" इति चामृतत्वाभिधानं चिरस्थेमान मुपलक्षयति, यदाहुः "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यत" इति।

अब स्वर्गादिकों में अतिशय दोष कैसे हैं, यह बतलाया जाता है (ज्योति०) ज्योतिष्टोमादि यज्ञ केवल स्वर्ग के साधक हैं (देवभाव को प्राप्त होकर अमृत पान, अप्सराओं के साथ बिहार; आदि सुखों का प्राप्त होना ही केवल ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का फल है) तथा बाजपेयादि यज्ञ स्वराज्य के भी साधक हैं अर्थात्—वाजपेयादि यज्ञ द्वारा स्वर्गाधिपति इन्द्र बन सकता है अर्थात् इन दोनों में अतिशयत्व दोष आ चुका, क्योंकि (परसम्पत्) दूसरे के सम्पत्ति का उत्कर्ष हुआ देखकर जिसकी हीन सम्पत्ति है ऐसे पुरुष को दुःख होना प्रकृति सिद्ध बात है। एक की अपेक्षा दूसरे को उत्तम स्थिति में रहना यही अतिशय कहाता है। इस तरह वैदिक कर्म कलाप भी दृष्ट उपाय के सदृश ही है। यह पूर्णतया बतलाया गया परन्तु मीमांसकों का अमरत्व के विषय में क्या कहना है उसका निरसन करना अभी बाकी रहा है, उसे अब कहते हैं। (अपामसोम०) हमने सोमपान किया व अमर हुये, प्रकृत वाक्य में 'अमर' यह जो शब्द है उसका अर्थ 'चिरकाल तक स्थिर रहने वाला' इसी तरह किया जाना चाहिये, उपरोक्त अर्थ करने के विषय में प्रमाण भी है (आभूत) प्रलय पर्यन्त स्थिर रहने वाले स्थान को अमृतत्व ऐसा कहा है अर्थात् प्रलय पर्यन्त जो स्थान रहे वह अमर स्थान है।

अत एव च श्रुतिः—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्व मानशुः, परेणनाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयोविशन्ति"

अर्थ—यागादिकों से 'अमृतत्व' की प्राप्ति नहीं होती, यह जो पूर्व में प्रतिज्ञा की गई है, उसी के दृढ़ीकरणार्थ श्रुती की साक्षी देते हैं। यथा—(न कर्मणा) कर्म से, प्रजा से तथा धनसे (इनमें से किसी भी एक से) मोक्ष

की प्राप्ति नहीं होती, वह तो केवल त्याग साध्य विवेक ज्ञान से (सन्यास से) ही लाभ होता है, तद्वत् 'हृदयान्तर्गत स्थित सुखरूप तथा स्वयं प्रकाश ब्रह्म कर्मातिरिक्त ज्ञान से प्राप्त करके महात्मा यति उसी (ब्रह्म) में लीन हो जाते हैं।

तथा—"कर्मणामृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानः, तथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मेभ्योऽमृतत्व मानशुः" इति।

तथा (कर्मणा) कर्म करने वाले, द्रव्य की इच्छा करने वाले, संतति उत्पन्न करने वाले ऋषि मृत्यु को प्राप्त हुये (मृत्यु अर्थात् स्वर्गादि क्षयी फल) दूसरे ज्ञानी ऋषिकर्म के योग से अप्राप्य अमृतत्व (मोक्ष) को ज्ञान से प्राप्त हुये इत्यादि अनेक श्रुतियां कर्म से मोक्ष प्राप्त नहीं होती, ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन करती हैं।

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—"तद्विपरीतः श्रेयान्'

तस्माद्=आनुभाविकाद्दुःखापघातकादुपायात्सोमपानादेरविशुद्धाद नित्यसातिशयफलाद्, विपरीतः=विशुद्धोहिंसादि संकराभावाद्नित्यनिरति शय फलोऽसकृदपुनरावृत्तिश्रुतेः।

अर्थ—इन सब बातों का बिचार करके ग्रन्थकार कहते हैं (तस्माद्) वह सोमयागादि यज्ञ अविशुद्ध तथा अनित्य व सातिशय फल देने वाले दुःख नाशक वैदिक उपाय से विपरीत (भिन्न) हिंसादि दोष रहित नित्य व निरति शय (तुल्य) फल देने वाला उपाय अतिश्रेष्ठ है, क्योंकि वह पुरुष पुनः जन्म मरण के परंपरा में नहीं प्राप्त होता, इस अर्थ की श्रुति साक्षी है।

न च कार्यत्वेनानित्यताफलस्ययुक्ता, भावकार्यस्य तथात्वाद्, दुःखप्रध्वंसस्य तु कार्यस्यापि तद्वैपरीत्याद्।

अर्थ—परन्तु हमारे उपरोक्त कथन में एक शंका उत्पन्न हो सकती है, कि विवेक ज्ञान से प्राप्त होने वाला मोक्ष यह भी अनित्यत्व दोषग्रस्त है क्योंकि "जो २ कार्य है वे २ अनित्य हैं" इस व्याप्ति से मोक्ष× को भी अनित्यता प्राप्त

×—त्रिविध दुःखों का ध्वंस यही मोक्ष है, तथा यह मोक्षरूपी फल भी कार्य है; इस कारण से अनित्य कहा।

होती है,परन्तु यह शंका मिथ्या है,क्योंकि जो २ भाव कार्य में हैं वे २ अनित्य हैं अर्थात् कार्यत्वेन अनित्यता सिद्ध करना यह ठीक नहीं है, कार्यत्वेन भाव कार्य ही को अनित्यता प्राप्त होती है, दुःखध्वंस अर्थात् दुख का नाश यद्यपि वह कार्य है परन्तु भावरूप नहीं है, अतएव दुःखाभाव रूप मोक्ष अनित्य नहीं है।

न च दुःखान्तरोत्पादः, कारणाप्रवृत्तौ कार्यानुत्पादाद्, विवेक ज्ञानोपजनन पर्यंतत्वाच्च कारणप्रवृत्तेः, एतच्चोपरिष्टादुपपादयिष्यते।

अर्थ—(न च) 'कारण प्रवृत्ति समाप्त होते ही कार्य की पुनः उत्पत्ति नहीं होती' ऐसा नियम होने के कारण, तथा विवेक ज्ञान प्राप्त होने तक ही कारणों की प्रवृत्ति होने के कारण विवेक ज्ञानान्तर दुःख की पुनः उत्पत्ति नहीं होवेगी, यह बात आगे ६९ वीं कारिका की टीका में अधिक सुस्पष्ट की जावेगी अस्तु,

अक्षरार्थस्तु—तस्माद्=आनुश्रविकाद् दुःखापघातकाद् हेतोर्, विपरीतः=सत्वपुरुषान्यता प्रत्ययः-साक्षात्कारो दुःखापघातको हेतुर्, अतएव श्रेयान्,आनुश्रविको हि वेदविहितत्वान्मात्रया दुःखापघातकत्वाच्च प्रशस्यः, सत्वपुरुषान्यता प्रत्ययोपि प्रशस्यः, तदनयोः प्रशस्ययोर्मध्ये सत्व पुरुषान्यता प्रत्ययः श्रेयान्।

इस उपरोक्त विवेचन का सार यह है कि (तस्माद्) उस दुःखनाशक वैदिक उपाय से, सत्वपुरुषान्यता प्रत्यय (प्रधान व पुरुष ये दोनों भिन्न हैं ऐसा साक्षात्कार होना ही सत्वपुरुषान्यता प्रत्यय कहलाता है) यह दुःख नाशक उपाय विपरीत है, तथा इसी कारण से वह अधिक कल्याणकारक है (आनुश्रविकोहि) वैदिक उपाय वेद विहित होने के कारण तथा उन उपायों से दुःख का भी किंचित् नाश होने के कारण प्रशस्त है (सत्वपुरुष) तद्वत् प्रकृति व पुरुष भिन्न है, यह प्रत्यय भी प्रशस्त है, परन्तु (तदनयोः) इन दोनों प्रशस्त उपायों में से दूसरा अधिक श्रेयस्कर है, क्यों कि इसमें हिंसा दोष बिलकुल न होकर इसके द्वारा मिला हुआ फल नित्य निरतिशय होता है।

कुतः पुनरस्योत्पत्तिरित्यत उक्तं—"व्यक्ताऽव्यक्तज्ञ विज्ञानात्" इति, व्यक्तं चाव्यक्तं च ज्ञश्च व्यक्ताऽव्यक्तज्ञाः, तेषां विज्ञानं-विवेकेन ज्ञानं, व्यक्तज्ञानपूर्वकमव्यक्तस्य तत्कारणस्य ज्ञानं, तयोश्च पारार्थ्येनात्मा परो ज्ञायत इति, ज्ञान क्रमेणाभिधानम् ।

इस विवेक ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है, यह बतलाते हैं (व्यक्त)व्यक्त, अव्यक्त, तथा ज्ञ, इन तीनोंके ज्ञान द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है । विज्ञान-विवेक द्वारा होने वाला ज्ञान यह पृथक् २ हैं, ऐसा ज्ञान (व्यक्त ज्ञान) व्यक्त अर्थात् कार्य, इसी का प्रथम ज्ञान होता है, पश्चात् उसके कारण का, अर्थात् अव्यक्त का ज्ञान होता है (तयोश्च) तथा ये दोनों (व्यक्ताव्यक्त) कोई और ही के लिये हैं, ऐसा मालूम होकर इनसे (दोनों से) पृथक् (किसी तरहसे सम्बन्ध न रखने वाला) आत्मा का ज्ञान होता है, सारांश ज्ञान प्राप्त होनेका क्रम ऐसा ही होने के कारण यहां पर भी व्यक्त, अव्यक्त, ज्ञ, ऐसा क्रमसे ही कहागया है ।

एतदुक्तं भवति—श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा शास्त्र युक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालनैरन्तर्यादर सेविताद् भावनामयात् विज्ञानादिति ।

अर्थ—सबका सारांश यह है कि (श्रुति) वेद, स्मृति, भारतादि इतिहास, तथा अष्टादश पुराण द्वारा व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ, इनका विवेकपूर्वक श्रवणाध्ययन करके व शास्त्रीय युक्तियों से उनकी व्यवस्था करके दीर्घकाल तक निरन्तर भावनामय योग का सेवन करने से विज्ञान प्राप्त होता है और यही बात आगे—

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धः केवल मुत्पद्यतेज्ञानम्" ॥ २ ॥

६४ वीं कारिका में बतलाया जावेगा कि विवेकज्ञान के लिये योग का दीर्घ काल पर्यन्त सेवन करना चाहिये अर्थात्-निरन्तर एक सरीखा सेवन करे ।

तदेवं प्रेक्षावदपेक्षितार्थत्वेन शास्त्रारम्भं समाधाय शास्त्रमारभमाण श्रोतृबुद्धिसमवधानाय तदर्थं संक्षेपतः प्रतिजानीते-"मूल प्रकृति" इत्यादिना—

अर्थ—इस तरह प्रकृति शास्त्रान्तर्गत जिस वस्तु का प्रतिपादन करना है, वह बुद्धिमानों को अपेक्षित (इष्ट) है, ऐसा कहकर अब शास्त्र का आरंभ करने वाले ग्रन्थकार श्रोताओंके समक्ष में 'शास्त्रार्थ' सहजमें ही आ जावे इसलिए प्रथमतः शास्त्रार्थ की संक्षेपतः प्रतिज्ञा करते हैं।

श्लो०—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

अर्थ—सत्व, रज, तम, इन तीन गुणों के साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं, वह केवल प्रकृति है, विकृति नहीं, तथा वह मूल प्रकृति है, महत्तत्व अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, ये सात प्रकृति व विकृति हैं, पञ्च महाभूत व एकादश इन्द्रियें मिलकर सोलह केवल विकृति हैं और जो किसी की न तो प्रकृति है न विकृति है, वह पुरुष संज्ञक है।

संक्षेपतोहि शास्त्रार्थस्य चतस्रो विधाः, कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चित् प्रकृति विकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः तत्र का प्रकृतिरेवेत्यतउक्तम्–'मूल' इति, मूलं चासौ प्रकृति श्चेति मूल प्रकृतिः, विश्वस्य कार्यसङ्घातस्यसामूलंनत्वस्यामूलान्तरमस्ति, अनवस्था प्रसङ्गात्, न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः

यदि संक्षेपतः बतलाया जावे तो प्रकृत शास्त्रान्तर्गत अर्थ के चार प्रकार हैं, जैसे कुछ अर्थ तो केवल प्रकृति के हैं और कुछ अर्थ विकृतिमात्र हैं, कुछ अर्थ प्रकृति व विकृति दोनोंके हैं, तथा एक अर्थ तो इन सबसे भिन्न अर्थात् अनुभयरूप है, (तत्रेति) अब इन अर्थों में प्रकृति क्या है ? यह बतलाते- हैं, उपरोक्त अर्थोंमें मूल प्रकृति नामका जो अर्थ है, वह केवल प्रकृति रूप है। अर्थात् सम्पूर्ण जगत को उत्पन्न करने वाली यह प्रकृति किसी काल में विकृतिभाव को प्राप्त नहीं होती, कारण वह मूल प्रकृति है, सब जगत् को उत्पन्न करने वाली यह प्रकृति किसी काल में भी विकृति भाव को प्राप्त नहीं होती, कारण वह मूल प्रकृति है, सब जगत् का मूल वही वही है उसका मूल कोई नहीं है क्योंकि यदि उसके भी मूल की कल्पना की जावे तो *अनवस्था दोष हो

* निर्णयार्थ जिस वस्तु की एकवार कल्पना की जाय उसके सजातीय अनेक वस्तुओं की कल्पना करने पर भी उन कल्पनाओं का अन्त न होना ही अनवस्था दोष कहाता है।

जायेगा, यथा इस सम्पूर्ण जगत् का मूल प्रकृति है, ऐसी एकबार कल्पना करने के बाद प्रकृति का मूल क्या ? उसका मूल क्या ? उसका भी मूल क्या ?

इस तरह मूल के विषय में कल्पनाओं की परम्परा लगाये जाने पर इनका अन्त होना अशक्य है और कल्पना भी की जावे तो कहीं पर प्रमाण नहीं देख पड़ता, इस कारण से सबका मूल उपादान प्रकृति ही है प्रकृति का मूल कोई नहीं है ऐसा समझना चाहिये। शास्त्रार्थ के प्रथम भाग का विवेचन यहां तक किया गया।

कतमाः पुनः प्रकृति विकृतयः कियत्यश्च इत्यत—उक्तम्–"महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त" इति। प्रकृतयश्च विकृतयश्च ता इति प्रकृति विकृतयः सप्त, तथाहि–महत्तत्वमहङ्कारस्यप्रकृतिः, विकृतिश्च मूल प्रकृतेः, एवमहङ्कारतत्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणां च प्रकृतिर्, विकृति श्चमहतः, एवं पञ्चतन्मात्राणि तत्वानि भूतानामाकाशादीनां प्रकृतयो, विकृतय श्चाहंकारस्य,

अर्थ—अब प्रकृति विकृति कौन से तथा कितने हैं, यह कहा जाता है, जो तत्व अपने प्रकृति के विकृति (विकार) हैं तथा अपने विकृति के प्रकृति (कारण) हैं उनकी प्रकृति विकृति संज्ञा (नाम) है वे तत्व कुल सात हैं। जैसे महत्तत्व, अहंकार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, इन सातों की प्रकृति विकृति संज्ञा क्यों है ? उसी का स्पष्ट तया विवेचनकिया जाता है (हां प्रकृति को कारण तथा विकृति को कार्य समझना) (तथाहि) महत्तत्व अहंकार की प्रकृति मूल प्रकृति की विकृति है, तद्वत् अहंकार पञ्चतन्मात्राओं की प्रकृति महत्तत्व की विकृति है, वैसे ही पञ्चतन्मात्रायें आकाशादि स्थूल महाभूतों की प्रकृति अहंकार की विकृति है। यह दूसरे भाग का विवेचन हुआ।

अथ का विकृतिरेव कियती चेत्यत उक्तं—"षोड़शकस्तुविकारः" इति, षोड़शसङ्ख्या परिमितोगणः षोडशकः, तु–शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमः, पञ्चमहाभूतानिएकादशेन्द्रियाणीति षोडशकोगणोविकारएव न प्रकृतिः,

अर्थ—अब केवल विकृति कौन २ से हैं, तथा उनके प्रकार कितने हैं, यह बतलाते हैं, विकार केवल सोलह हैं, कारिका मे "तु" शब्द अव धारणार्थ तथा भिन्न क्रम को सूचित कराने के लिये है। पञ्च महा भूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी,) तथा एकादश इन्द्रियां मिल कर सोलह तत्व हुये हैं, और वे विकार मात्र हैं, किसी के प्रकृति (कारण) नहीं है।

यद्यपि पृथिव्यादीनामपिगोघट वृक्षादयो विकाराः, एवं तद्विकार भेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथापि न पृथिव्यादिभ्यस्तत्वान्तर तत्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वमिहाभिप्रेतमितिनदोषः।

यद्यपि गो, घट, वृक्षादि पृथ्वी के विकार (कार्य) हैं, वैसे ही दधि बीज इत्यादि गो वृक्षादिकों के विकार हैं, यह सत्य है, तथापि ये गो घट वृक्षादि पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों से पृथक तत्व नहीं है अर्थात् गो, घट, वृक्षादि तथा बीज दध्यादि ये सब पृथ्वी रूप ही हैं पृथक तत्व नहीं इसी कारण ये विकृति, (कार्य) मात्र कहे गये हैं, कारण प्रकृति किसको कहा जाय इसका नियम यह है "तत्वान्तरोपादानत्वंमप्रकृतित्वम्" जो अन्य तत्वों का उपादान कारण हो, वही प्रकृति है, ऐसा हम समझते हैं, इससे यहां दोष नहीं है।

सर्वेषांगोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्वान्तरत्वम्

अर्थ—गो, घट, वृक्षादि यह सब स्थूल रूप वाले हैं तथा इन्द्रिय द्वारा सब का प्रत्यक्ष होता है, इसी कारण वे पृथक तत्व नहीं माने गये, क्योंकि जो तत्व भिन्न रहते हैं वे पदार्थ का विभाग करने वाले उपाधि से युक्त रहते हैं, जैसे त्रिगुणों की साम्यावस्था तथा उसका वैषम्य यह भिन्न उपाधि यां मूल प्रकृति व महत्तत्वादि सात पदार्थों का विभाग करते हैं, इसीसे वे तत्व माने जाते हैं। तद्वत् गो वृक्षादिकों में न हो कर स्थूलत्व इन्द्रिय ग्राह्य त्वादि धर्म दोनों में समान ही है, अर्थात् तत्व नहीं माने गये। यह विवेचन ३ रे भाग का है।

अनुभय रूपमाह—"न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुष" इति।
एतत्सर्वमुपरिष्टादुपपादयिष्यत इति ॥ ३ ॥

अर्थ—पुरुष यह शास्त्रार्थ का चौथा प्रकार है, (अनुभय) वह न तो किसी की प्रकृति (कारण) है न विकृति (कार्य) ही है, इसी कारण मूल में 'अनुभय रूप' कहा है, इसका विवेचन आगे कारिका २०।२१।२२ में स्पष्टतया किया जावेगा ॥ ३ ॥

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टंप्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

अर्थ—सब प्रमाणों का इन प्रत्यक्षादि तीन प्रमाणों ही में अन्तर्भाव होने के कारण (हमको) प्रत्यक्ष अनुमान तथा आप्त वाक्य यह तीन प्रमाण इष्ट हैं, प्रमेय सिद्ध प्रमाण द्वारा ही होने के कारण प्रथम प्रमाण का प्रतिपादन किया है ।

तमिममर्थंप्रामाणिकं कर्तु मभिमताः प्रमाण भेदा लक्षणीयाः, न च सामान्यलक्षणमन्तरेणशक्यं विशेष लक्षणं कर्तुम् इति प्रमाण सामान्यं तावल्लक्षयति, "प्रमाण मिष्टं" इति ।

पूर्वोक्त शास्त्रार्थ–प्रमाण द्वारा सिद्ध होने वाला है, अतः यह सिद्ध करने के लिये सांख्य शास्त्र को कौन से प्रमाण इष्ट हैं, तथा इन प्रमाणों के कितने प्रकार हैं, उनका लक्षण क्या है, यह प्रथम बतलाना चाहिये, परन्तु पदार्थ का सामान्य लक्षण किये बिना विशेष लक्षण हो नहीं सकता, इस कारण से प्रथमतः प्रमाण का सामान्य लक्षण दर्शाते हैं ।

अत्र च प्रमाणमितिसमाख्या लक्ष्यपदं, तन्निर्वचनं च लक्षणं, प्रमीयते–अनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वमवगम्यते, असन्दिग्धा विपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति ।

अर्थ—इस कारिका में 'प्रमाण' यह पद स्वतः लक्ष्य है (तन्निर्वचनमिति) तथा इस 'प्रमाण' पदका निर्वचन(व्युत्पत्ति)है,वही उसका लक्षण है (प्रमीयते) जिसके द्वारा प्रमेय का ज्ञान हो वही प्रमाण है, ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है, इस कारण से यह यथार्थ ज्ञान का साधन है, ऐसा जाना जाता है, उस यथार्थ ज्ञान अर्थात् प्रमा का शास्त्रीय अर्थ ;बताते हैं (असंदिग्ध) जिसका विषय

निश्चित विपर्यय रहित अर्थात् अबाधित तथा अज्ञात है, ऐसी चित्त-वृत्ति द्वारा होने वाला जो पुरुषवर्ती फल नामक बोध उसको यथार्थ ज्ञान अथवा प्रमा कहते हैं, (तत्साधनं) और उसका जो साधन है वही प्रमाण है ।

एतेन संशयविपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रसंगः ।

इस कारण से संशय विपरीत ज्ञान तथा स्मृति इनके जो साधन हैं वे प्रमाण नहीं हैं, ऐसा सिद्ध होता है ।

संख्या विप्रतिपत्तिं निराकरोति–"त्रिविधं" इति, तिस्रोविधा यस्य प्रमाण सामान्यस्य तत् त्रिविधं,न न्यूनं नाप्यधिकमित्यर्थः,विशेष लक्षणानन्तरं चैतदुपादयिष्यामः ।

अर्थ—इन प्रमाणों की संख्या में जो प्रतिवाद है, उसका निरसन करते हैं, जैसे कोई कहते हैं प्रमाण चार हैं, वेदान्ती षट् प्रमाण कहते हैं, तांत्रिक आठ बतलाते हैं, यह जो द्वन्द है उस विषय में स्वमत दर्शाते हैं (तिस्रोविधा)तीन प्रकारके प्रमाण सामान्यतया प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वचन यह त्रिविध प्रमाण ही हमको मान्य है,इनसे न्यून तथा अधिक हमको मान्य नहीं है, इसका उचित विवेचन आगे ५ वीं कारिका में करेंगे ।

कतमाः पुनस्तिस्रोविधा इत्यत आह–"दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च" इति, एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायम्, लोकव्युत्पादनार्थत्वाच्छास्त्रस्य तस्यैवात्राधिकाराद्, आर्षं तु विज्ञानं योगिनामूर्द्धस्रोतसां नलोक व्युत्पादनायालमितिसदपि नाभिहितमनधिकाराद् ।

अर्थ—(कतमाः) वे तीन प्रमाण कौनसे हैं,सो बतलाते हैं(प्रत्यक्षादि) प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त वाक्य ये तीन प्रमाण लौकिक प्रमाणों को उद्देश कर कहा है, क्योंकि यह शास्त्र (लोक व्युत्पाद) लोगों के बोध के लिये हैं, अतः जो इस प्रमाण का उपयोग नहीं करते, उन्हें उस चौथे आर्ष प्रमाण की गणना करनेसे क्या लाभ ? (आर्षन्तु) आर्ष प्रमाण तो बाल्यावस्थासे ब्रह्मचारी रह कर योग द्वारा जो अतीन्द्रिय ज्ञानी होते हैं, उनके उपयोगी हैं, सामान्य पुरुषों के नहीं, इसी से गणना न की गई ।

स्यादेतद् 'मामून् न्यूनम्' अधिकं तु कस्मान्न भवति, सङ्गिरन्ते हि प्रतिवादिन उपमानादीन्यपि प्रमाणानि, इत्यत आह—"सर्व प्रमाण सिद्ध त्वाद्" इति। एष्वेव दृष्टानुमानाप्तवचनेषुसर्वेषांप्रमाणानांसिद्ध त्वाद् अन्तर्भावादित्यर्थः। एतच्चोपपादयिष्यत इत्युक्तम्।

यदि आप तीन प्रमाणों से न्यून (कमी) नहीं मान्य करते तो मत करो, परन्तु गौतमादिकों को लौकिक ही प्रमाण अधिक मान्य है। न कि आर्ष। इसी के समाधानार्थ मूल में यह दिया है कि "सर्वप्रमाण सिद्धत्वात्" अर्थात् उपमानादि प्रमाणों का इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव होता है। वह कैसे यह आगे की कारिका में कहा जावेगा, यह बात पहले ही हम कह चुके हैं।

अथप्रमेयव्युत्पादनाय प्रवृत्तं शास्त्रं कस्मात्प्रमाणं सामान्यतो विशेषतश्चलक्षयति, इत्यत आह—"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि:" सिद्धिः= प्रतीतिः, सेयमार्य्याऽर्थ क्रमानुरोधेन पाठक्रममनादृत्यैवं व्याख्याता ॥४॥

अर्थ—(अथेति) प्रमेय सिद्धि के लिये ही यदि यह शास्त्र प्रवृत्त हुआ, तो प्रमेय का ही निरूपण इसको प्रशस्त होकर इन प्रमाणों के झगड़ों में पड़ना व्यर्थ है, ऐसा कोई कहेंगे, परन्तु "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणात्" प्रमेय की सिद्धि प्रमाण बिना अशक्य जानकर ही हमको इसका उल्लेख प्रथमतः कर्त्तव्य है, (सेयमार्य्येति) इस आर्या का अर्थानुकूल व्याख्यान पाठक्रम का अनादर करके किया है, सो इस प्रमाण से "पाठक्रमादर्थ क्रमस्य बलीयस्त्वं" पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम की बलवत्ता होने से तदनुकूल ही व्याख्यान किया गया है।

सम्प्रति प्रमाण विशेष लक्षणावसरे प्रत्यक्षस्य प्रमाणेषु जेष्ठत्वात् तदधीनत्वाच्चानुमानादीनां, सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेश्च तदेव ताव-ल्लक्षयति "प्रतिविषयाध्यवसायोदृष्टम्" इति, प्रतिविषयाध्यवसायोदृष्टम् त्रिविधमनुमानमाख्यातं, तल्लिंगलिंगिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनंतु ॥ ५ ॥

अर्थ—(सम्प्रतीति) अब इस कारिका में उन प्रमाणत्रय का विशेष लक्षण बतलाना है, परन्तु प्रमाणत्रय में किस का लक्षण पहिले किया जाय? इस शंका के उपस्थित होने के कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण सब में श्रेष्ठ तथा अनु-

मानादि प्रमाण उसी के आधीन होने से और इस प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में सब वादियों को इष्टापत्ति होने के कारण प्रथमतः इसी प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहना ठीक होगा ऐसा जानकर "लक्षण" बतलाते हैं। "प्रतिविषया ध्यवसायोदृष्टम्" विषयों के प्रति संबद्ध हुई जो इंद्रियां उन इंद्रियों के आश्रय से स्थित बुद्धि व्यापार को अर्थात् ज्ञान को दृष्ट प्रमाण कहते हैं, पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट, ऐसा तीन प्रकार का अनुमान है, आप्तश्रुति का यही आप्त बचन संज्ञक तीसरा प्रमाण है।

अत्र "दृष्टम्" इति लक्ष्य निर्देशः। परिशिष्टंतु लक्षणम्। समाना समान जातीय व्यवच्छेदोलक्षणार्थः, अवयवार्थस्तु-विसिन्वन्ति विषयिण मनुबध्नन्ति स्वेनरूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्।

अर्थ—(अत्रेति) इस कारिका में "दृष्टम्" ऐसा जो पद है, वह लक्ष्य है तथा "प्रतिविषयाध्यवसायो" यह उसका लक्षण है। (समानेति) समान जाति से तथा असमान जाति के पदार्थों से लक्ष्य को बिलकुल प्रथक करना यही लक्षण का अर्थ है। (विसिन्वन्ति) जो विषय को ग्रहण करता है वह विषयी कहलाता है। तथा उस विषयी को जो अपने स्वरूप से निरूपणीय करते हैं, वे विषय कहलाते हैं, अर्थात् जो पुरुष को अपने स्वरूप में आसक्त कर लेते हैं वे विषय हैं।

विषयाः पृथिव्यादयः सुखादयश्च, अस्मदादीनामविषयाश्च तन्मात्र लक्षणायोगिनामूर्द्धस्रोतसां च विषयाः, विषयं विषयं प्रतिवर्तत इति प्रतिविषयं इन्द्रियम्, वृत्तिश्च संन्निकर्ष, अर्थ सन्निकृष्टमिन्द्रिय मित्यर्थः, तस्मिन्नध्यवसायः-तदाश्रित इत्यर्थः, अध्यवसायश्च बुद्धि व्यापारो ज्ञानम्।

अर्थ—(विषयाः) पृथिव्यप्तेजादि, तथा सुःख दुख इत्यादि और हमारे ज्ञान साधन के विषय न होने वाले परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानी, योगी, इनके ज्ञान साधन के विषय होने वाले तन्मात्रा रूपादि ये सब विषय हैं। (विषय) इन सब विषयों से (विषय २ के प्रति) इंद्रियोंका सम्बन्ध रहता है, तथा इंद्रिय व अर्थ इनके बीच में जो सूक्ष्म प्रवाह (सन्निकर्ष) शुरू होता है, उसी को

वृत्ति कहते हैं। "तस्मिन्नध्यवसायः" अर्थात् इन विषय सन्निकृष्ट इंद्रियों में स्थित जो अध्यवसाय अर्थात् इंद्रियों का आश्रय करके रहने वाला जो बुद्धि का व्यापार उसको "ज्ञान" कहते हैं, इसका अधिक स्पष्ट अर्थ इस तरह है—

उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोभिभवेसति यः सत्व समुद्रेकः सोध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते।

अर्थ—विषयों का जिन्होंने ग्रहण कियाहै, ऐसी इंद्रियोंकी प्रथमतः वृत्ति निर्माण होती है, उस वृत्ति के द्वारा बुद्धिस्थ तमोगुण की प्रबलता न्यून होकर जो बुद्धि के सत्व गुण की अधिकता होती है, उस सात्विक अधिकता ही को अध्यवसाय, वृत्ति तथा ज्ञान कहते हैं, यह तीनों एक ही के पर्यायवाची हैं।

इदं तावत् प्रमाणम्, अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोध इति।

अर्थ—(इदं) इसी को प्रमाण कहते हैं (अनेनेति) इस प्रमाण द्वारा चैतन्य शक्ति (पुरुष) पर होने वाला जो अनुग्रह है वही फल प्रमा या ज्ञान कहलाता है।

बुद्धि तत्वं हि प्राकृतत्वादचेतनम् इति तदध्यवसायोप्यचेतनो घटादिवत्, एवं बुद्धि तत्वस्थ सुखादयोपि परिणाम भेदा अचेतनाः, पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गीचेतनः, सोयं बुद्धि तत्व वर्तिना ज्ञान सुखादिना तत्प्रति विम्बितस्तच्छायापत्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते।

अर्थ—(बुद्धि) बुद्धि तत्व प्रकृति का परिणाम(विकार) होने से अचेतन (जड़) है, तद्वत् बुद्धि तत्व के सुख दुःखादि विकार ये भी जड़ हैं (पुरुष) पुरुष सुख दुःखादि परिणामों से संबन्ध न रखने वाला तथा चैतन्य है, परन्तु (सोयं) वह पुरुष (सुखादि से संबन्ध न रखने वाला) बुद्धि में प्रतिविम्बित होता हुआ बुद्धि से तादात्म्य भाव को प्राप्त होकर, बुद्धिस्थ ज्ञान सुखादि धर्मों के योग से स्वतः ज्ञान सुखादि धर्मों से युक्त हुये सदृश मालूम होता है, इसीलिये 'चेतन शक्ति पर अनुग्रह होता है' ऐसा पूर्व में कहा है।

चितिच्छायापत्या चाचेतनापि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनवद्

भवतीति, तथा च वक्ष्यति– 'तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिवलिङ्गं, गुणकर्तृत्वेपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः" का० २०' इति।

(चितिच्छायेति) तथा चैतन्य (पुरुष) से तदात्म्य भाव को प्राप्त होने के कारण अचेतन (जड़) बुद्धि व उसका जड़ अध्यवसाय भी चेतन के सदृश हुआ सा मालूम होता है और यही बात आगे बीसवीं(२० वीं)कारिका में स्पष्ट की गई है।

अत्राध्यवसायग्रहणेन संशयंव्यवच्छिनत्ति, संशयस्यानवस्थितग्रहणेनानिश्चित रूपत्वाद्,निश्चयोऽध्यवसायइति चाऽनर्थान्तरम्,विषयग्रहणेन चासद्विषयंविपर्य्ययमपाकरोति, प्रतिग्रहणेन चेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष सूचनादनुमान स्मृत्यादयश्च पराकृताभवन्ति, तदेवं समानासमान जातीयव्यवच्छेदकत्वात् "प्रतिविषयाध्यवसाय" इति दृष्टस्य संपूर्णं लक्षणम्।

अर्थ—इस 'दृष्ट' लक्षणमें जो'अध्यवसाय ऐसा कहा है,सो इससे संशय का निरसन किया है, क्योंकि 'स्थाणुर्वा पुरुषः' ऐसा संशय दो कोटी से संबन्ध रखता है, परन्तु अध्यवसाय में यह बात न होकर उसका एक निश्चित रूप रहता है, निश्चय तथा अध्यवसाय ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं अर्थात्—इनका अर्थ एक ही है, पृथक नहीं, (विषयेति) लक्षणमें 'विषय' शब्द का ग्रहण करके जिसका विषय असत्य है ऐसा विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान का निरसन किया है, (प्रतिग्रहणेनेति) प्रति शब्द का ग्रहण करके इन्द्रिय तथा विषय इनके सन्निकर्ष की सूचनादी गई है, तथा इससे अनुमान स्मृति इत्यादिकों का निरसन किया (तदेवं) सारांश 'प्रतिविषयाध्यवसायः' यह दृष्ट (प्रत्यक्ष) का सम्पूर्ण लक्षण हुआ, लक्षण यह लक्ष्य को समान तथा असमान जाति से पृथक करने वाला ही रहता है, उपरोक्त लक्षण को समान जाति से (अनुमानादि प्रमाणों से) विजातीय से (घटपटादि से) पृथक कर प्रत्यक्ष किया। अतः लक्षण अदुष्ट है, यह सिद्ध हुआ।

तन्त्रान्तरे लक्षणान्तराणि तैर्थिकानां न दूषितानि,विस्तारभयादिइति।

शास्त्रज्ञ पूज्य विद्वानों के मान्य पृथक २ शास्त्रान्तर्गत पृथक २ लक्षणों का विस्तार भय से यहां परीक्षण नहीं किया गया।

नानुमानं प्रमाणमिति वदतालौकायतिकेनाऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्य्यस्तो वा पुरुषः कथंप्रतिपद्येत, न च पुरुषान्तरगता अज्ञान संदेह विपर्य्ययाः शक्या अर्वागदृशा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुं, नापि प्रमाणान्तरेण, अनभ्युपगमाद् ।

अर्थ—प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में सर्व शास्त्रज्ञों की अनुकूलता होने के कारण हमने उसका प्रतिपादन प्रथमतः शुरू कर दिया, परन्तु अनुमान का प्रकार वैसा नहीं है, (नानुमानं) लोक प्रसिद्ध जो कुछ है, बस उतना ही प्रमाण मानने वाले लोकायतिक (चार्वाक) केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, परन्तु उनको हम यह पूंछते कि जो अप्रतिपन्न (अज्ञानी मूर्ख) हैं, या जिन को संशय हुआ है या जिनको विपरीत ज्ञान हुआ है उन पुरुषों को आप कैसे जानोगे ? कारण (न च) आपको तो जितना प्रत्यक्ष देख पड़े, उतना ही मानने वाले हैं, तब आपको पर पुरुष हृदयान्तर्गत रहने वाला अज्ञान, संदेह, मिथ्या ज्ञान,प्रत्यक्ष दिखाना अशक्य है अर्थात् स्थूल दृष्टि द्वारा इनको नहीं जान सकते (नाऽपि) और प्रत्यक्ष के सिवाय दूसरे कोई प्रमाण से जानोगे ऐसा कहें, तो आपको दूसरा कोई प्रमाण भी मान्य नहीं है ।

अनवधृताऽज्ञान संशय विपर्य्यासस्तु यं कञ्चन पुरुषं प्रतिवर्तमानोऽनवधेय वचनतया प्रेक्षावद्भिरुन्मत्त वदुपेक्ष्येत, तदनेना ज्ञानादयः परपुरुष वर्तिनोऽभिप्रायभेदाद् वचनभेदाद् लिंगादनुमातव्या इत्यकामेनाप्यनुमानं प्रमाणमभ्युपेयम् ।

अर्थ—(अनवधृता) अज्ञान, संशय व विपर्यास इनके विषयमें निश्चय न करके जो मिले उसी के सामने अपना इष्ट हेतु का कथन करने लगोगे तो वे पागल के सदृश तुम्हारी उपेक्षा (निरादर) करेंगे, इसलिये (तदनेनाज्ञान) पर पुरुषस्थ अज्ञानादि दोष उनके वाक्याभिप्राय पर से आपको अनुमान द्वारा ही जानना चाहिये, जैसे कि किसी पुरुष ने पूछा 'स्थाणुर्वापुरुषः' यह खम्भा है या पुरुष ? इस पर आपको इसी तरह जानना होगा, कि यह पुरुष इसके विषय में ऐसा कहता है, अतः इसको इस बात का यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि इसके कहने से ऐसा ही मालूम होता है, यह जानता तो ऐसा कभी नहीं

कहता, आदि २ से पर पुरुष हृदयस्थ अज्ञानादि दोष उसी के उक्त वाक्यों से जानना चाहिये, (इत्यकामेनापि) इससे आप (चार्वाकों) को यद्यपि अनुमान प्रमाण मानने की इच्छा नहीं है, परन्तु उपरोक्त प्रसंग विशेष के लिये मानना ही पड़ेगा।

तत्र प्रत्यक्षकार्यत्वाद् अनुमानं प्रत्यक्षानन्तरं निरुपणीयं, तत्रापि सामान्यलक्षणपूर्वकत्वाद्विशेष लक्षणस्यानुमान सामान्यं तावल्लक्षयति, "तल्लिंगलिंगि पूर्वकम्" इति।

अर्थ—अनुमान प्रमाण न मानने वालों (चार्वाक) को उक्त रीति से परास्त करके अनुमान प्रमाण को प्रतिपादन करते हैं (तत्रेति) अनुमान यह प्रत्यक्ष का कार्य है इस कारण से प्रत्यक्षानन्तर उसी का निरूपण करना युक्त है (तत्रापि) परन्तु सामान्य लक्षण पूर्वक विशेष लक्षण होता है। इस कारण प्रथमतः अनुमान का सामान्य लक्षण दर्शाते हैं। "तल्लिंगलिंगिपूर्वकम्" यह अनुमान का सामान्य लक्षण है।

लिंगंव्याप्यं लिंगि व्यापकम्, शङ्कितसमारोपितोपाधिनिराकरणेन वस्तुस्वभावप्रतिवद्धं व्याप्यं, येन च प्रतिवद्धं तद् व्यापकम्।

अर्थ—लिंग का अर्थ व्याप्य,तथा लिंगिका अर्थ=व्यापक होता है,(शंकित) शंकिततथा समारोपित ऐसी जो दो प्रकारकी उपाधि है,उन उपाधिद्वयका निरास करने से पदार्थ के साथ स्वभावतः जो धर्म सम्बन्ध रहता है उसी को व्याप्य कहते हैं। (येन च) तथा जिस पदार्थ से वह उपरोक्त धर्म सम्बन्ध रखता है वही पदार्थ व्यापक है। सारांश धर्मी को व्यापक व धर्म को व्याप्य कहते हैं।

लिंग लिंगि ग्रहणेन च विषय वाचिना विषयिणं प्रत्ययमुपलक्षयति, धूमादि र्व्याप्यो वन्ह्यादि व्यापक इति यः प्रत्ययस्तत्पूर्वकम्, लिंगि ग्रहणं चावर्तनीयं, तेनलिङ्गमस्यास्तीति पक्षधर्मता ज्ञानमपि दर्शितं भवति-तद्व्याप्य व्यापक भावपक्षधर्मता ज्ञान पूर्वकमनुमानमित्यनुमान सामान्यं लक्षितम्।

अर्थ—(लिंगेति) लक्षण में लिंग व लिंगि ये विषय दर्शित कराने वाले शब्द ग्रहण किये हैं, परन्तु इससे उनका अनुभव सूचित होता है,

इस लक्षण का अर्थ ऐसा होगा, (धूमादि) की धूमादि व्याप्य हैं अर्थात अग्नि का स्वाभाविक धर्म है। व अग्नि व्यापक है अर्थात धूमादि स्वाभाविक धर्मों का व्यापक आश्रय है, ऐसा जो प्रत्यय (अनुभव) तत्पूर्व प्रत्यान्तर (अनुभव) के पश्चात् अनुमान होता है, (लिंगि) उक्त लक्षण में जो 'लिंग' शब्द है उसकी पुनः आवृत्ति करना चाहिये जैसे "तल्लिंग लिंगि पूर्वकम्" ऐसा लक्षण समझना अर्थात् (तेन) लिंग जिस आधार पर है, ऐसे पक्ष धर्मता का ज्ञान भी (उस लक्षण में) होना चाहिये, (तद् व्याप्येति) इस तरह व्याप्य व्यापक भाव पक्षधर्मता ज्ञान पूर्वक अर्थात् इन तीनों का ज्ञान हुये पश्चात् इसी ज्ञान द्वारा अनुमान होता है, ऐसा अनुमान का सामान्य लक्षण सिद्ध हुआ।

अनुमान विशेषाँस्तन्त्रान्तरे लक्षितानस्मारयति-'त्रिविधमनुमान माख्यातं तद्' इति, तत् सामान्यतो लक्षितमनुमानंविशेषतस्त्रिविधं, पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं च।

अर्थ—(अनुमानेति) तन्त्रान्तरों में (गौतम कृत न्याय शास्त्रादि में) कथित अनुमान के प्रकार कितने हैं, वह बतलाता हूं। अनुमान तीन प्रकार का है। (सामान्यतः) सामान्यतः जिस अनुमान का लक्षण पूर्व कर चुके हैं, उसके वे तीन प्रकार हैं। पूर्ववत, शेषवत, सामान्यतोदृष्ट, ऐसे तीन प्रकार हैं।

तत्र प्रथमं तावद् द्विविधं वीतमवीतं च। अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम, व्यतिरेक मुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम।

अर्थ—परन्तु उपरोक्त अनुमान के तीनों प्रकारों का, प्रकृतशास्त्रोदित वीत, तथा अवीत इन दो कोटि में उन तीनों प्रमाणों का अन्तर्भाव होता है। (अन्वयेति) अन्वय व्याप्ति द्वारा प्रवृत्त होने वाला व साध्य का विधान कराने वाला जो अनुमान होता है, वही पूर्ववत या वीत संज्ञक है और (व्यतिरेकेति) व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा प्रवृत्त होने वाला तथा व्यापक निषेध पूर्वक व्याप्य का निषेध करने वाला जो अनुमान वह अवीत है।

तत्रावीतं शेषवत्, शिष्यते परिशिष्यते इतिशेषः, स एव विषय

तया यस्यास्त्यनुमानज्ञानस्यतच्छेषवद्, यदाहु: "प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्रा प्रसंगाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेष इति।

अर्थ—(तत्रेति) वह 'अवीत' ही शेषवत है (शिष्यतेति) शेष अर्थात् कुछ बाकी रहने वाला, जिस अनुमान में यह 'शेष' ही अनुमान ज्ञान का विषय रहता है, वही शेषवत् अनुमान है, इस विषय में प्रमाण दिया है—(प्रसक्तेति) प्रसक्त यानी आरोपित, या प्राप्त, इस प्रसक्त वस्तु का अन्य पदार्थों से निषेध हुआ करता है और जब निषेध होने के बाद शेष पदार्थ में उसका सम्प्रत्यय अर्थात् ज्ञान होता है तो उसी को परिशेष कहते हैं, जैसे गंधतत्व यह पृथ्वी के सदृश जलादि अन्य पदार्थों में भी प्रसक्त है, क्योंकि जल–गुणवाला है, जो २ द्रव्य हैं वे २ गुण वाले हैं ऐसी व्याप्ति का सिद्धान्त है, जैसे 'पृथ्वी' इस अनुमान से सब द्रव्यों में गुणतत्व की प्रसक्ति पाई जाती है, तथा ऐसी जब प्रसक्ति होती है तभी उसका प्रतिषेध भी होता हैं। अर्थात् जल, वायु आदि द्रव्यों में संयोगादि अन्य गुणों के सदृश प्रसक्त गंध का प्रतिषेध करने पर 'शेष' बाकी बची हुई पृथ्वी में उस गुण का प्रत्यय (ज्ञान) होता है। इस कारण पृथ्वी में प्रतीत होने वाला जो गंधवत्वरूप पदार्थ है, वही परिशेष है।

अस्य चावीतस्य व्यतिरेकिण उदाहरणमग्रेऽभिधास्यते।

इस व्यतिरेकी 'अवीत' अनुमान का उदाहरण आगे ९ वीं कारिका में स्पष्ट किया जायगा।

वीतं च द्वेधा—पूर्ववत सामान्यतोदृष्टं च, तत्रैकं दृष्ट स्वलक्षण सामान्यविषयंयत् तत्पूर्ववत, पूर्वंप्रसिद्धं–दृष्टस्वलक्षण सामान्यमितियावत, तदस्यविषयत्वेनास्त्यनुमान ज्ञानेस्यति पूर्ववद्, यथा धूमाद् वह्नित्वसामान्य विशेषः पर्वतेऽनुमीयते, तस्य च वह्नित्व सामान्यस्यस्वलक्षणं वह्निविशेषोदृष्टो रसवत्याम।

अर्थ—वीत अनुमान–पूर्ववत, व सामान्यदृष्ट ऐसा दो प्रकार का है, उन दोनों में से आद्यपूर्ववत् का लक्षण "दृष्टस्वलक्षण सामान्य विषयं" ऐसा है, दृष्ट यानी व्यापक रीति से जाना हुआ स्वलक्षण=असाधारण, सामान्य= सर्वत्र अनुगत, ऐसा धर्म जिसका विषय हो, वह पूर्ववत् वीत कहाता है।

जैसे (धूमादिति) धूमदेखकर अग्नित्व सामान्यक विशेष का पर्वत पर अनुमान किया जाता है, उस अग्नित्व सामान्य विशेष का स्वलक्षण=असाधारण धर्म जो अग्निविशेष वह रसोई गृह में दृष्ट है।

अपरंचवीतं सामान्यतोदृष्टम्–अदृष्टस्वलक्षण सामान्यविषयं, यथेन्द्रियविषयमनुमानम्, अत्र हि रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन करणवत्व मनुमीयते, यद्यपि करणत्व सामान्यस्य छिदादौ वास्यादिस्वलक्षणमुपलब्धं तथापि यज्जातीयस्यरूपादिज्ञाने करणत्वमनुमीयते तज्जातीयस्य करणस्य न दृष्टंस्वलक्षणं प्रत्यक्षेण, इन्द्रिय जातीयं हि तत्करणं, नचेन्द्रियत्व सामान्य स्यस्वलक्षणमिद्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वागदृशां, यथावह्नित्व सामान्यस्य स्वलक्षणंवह्निः, सोयं पूर्ववतः सामान्यतोदृष्टात्सत्यपि वीतत्वेन तुल्यत्वे विशेषः।

अर्थ—अपर अर्थात् दूसरे वीत सामान्यतोदृष्ट का लक्षण "अदृष्ट स्वलक्षण सामान्य विषयं" है, इसको उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे। जैसे—इन्द्रिय विषय का अनुमान, रूपादि विषयों का ज्ञानसाधन सहित है। अर्थात् वह ज्ञान इन्द्रिय द्वारा होने वाला है, क्योंकि रूपादिज्ञान यह भी तो एक तरह की क्रिया ही है और जो २ क्रिया रहती है, वह २ साधन के द्वारा हुआ करती है। जैसे—छेदन यह क्रिया कुल्हाड़ी द्वारा होती है, इस अनुमान का साध्य उपरोक्तानुसार प्रत्यक्ष देखने के लायक नहीं है, पर केवल उसके जाति का यहां पर ज्ञान होता है। जैसे छेदन इस क्रिया में कुल्हाड़ी बसूला इत्यादि साधन हैं। तद्वत् रूपज्ञान रसादिज्ञान क्रिया में भी अवश्य कोई साधन होना चाहिये, बस इतना ही यहां पर समझना है। परन्तु वे कौन से साधन हैं। वह पाक गृह के अग्नि सदृश प्रत्यक्ष देखे नहीं जाते, क्यों कि (इन्द्रियेति) रूपादि ज्ञानरूप क्रियाओं की साधना इन्द्रियत्व जाति की है। (न च) परन्तु इन्द्रियत्व इस सामान्य का स्वलक्षण नेत्र घ्राणादि इन्द्रियों का स्थूल दृष्टि वाले पुरुषों को प्रत्यक्ष होने सरीखा नहीं है अर्थात् देखने के योग्य वे अपनी सामर्थ बना नहीं सकते। (वह्नि) अग्नि सामान्य का स्वलक्षण वह्नि पाक स्वगृह में स्थूलदृष्टि मनुष्य जैसे प्रत्यक्ष कर लेते हैं वैसा यहां नहीं

है, इसी कारण (सोयं) पूर्ववत् व सामान्यतोदृष्ट यह दोनों यद्यपि अन्वयी अनुमान है तथापि उन दोनों में सामान्य विशेष का स्वलक्षण प्रत्यक्ष होना व न होना यह भिन्नता है ही, इसीसे बीत अनुमान के पूर्वोक्त दो प्रकार हुये हैं।

अत्र च दृष्टं=दर्शनं, सामान्यतइति सामान्यस्य, सार्वविभक्तिकस्तसिः, अदृष्ट स्वलक्षणस्य सामान्यविशेषस्य दर्शनं सामान्यतो दृष्ट मनुमानमित्यर्थः। सर्वंचैतदस्माभिर्न्याय वार्त्तिक तात्पर्यटीकायां व्युत्पादित मिति नेहोक्तं विस्तरभयाद्।

अर्थ—(अर्थेति) सामान्यतोदृष्ट इस वाक्य में "दृष्ट" शब्द का अर्थ दर्शन ऐसा समझना और 'सामान्यतः' इस पद में षष्ठी स्थान में 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' प्रत्यय जानना न कि पंचम्यन्त तसिल्, (सर्व) इस विषय का विस्तर पूर्वक न्याय वार्तिक टीका में विवेचन किया है, अतः यहां पर विस्तार नहीं किया गया।

प्रयोजक वृद्धशब्द श्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्ध प्रवृत्तिहेतुज्ञानानुमानपूर्वकत्वाच्छब्दार्थ सम्बन्धग्रहणस्य, स्वार्थ सम्बन्धज्ञान सहकारिणश्च शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वादनुमानपूर्वकत्वं इत्यनुमानानन्तरं शब्दं लक्षयति "आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु" इति।

अर्थ—प्रत्यक्ष तथा अनुमान का विवेचन कर अवशेष शब्द प्रमाण का निरूपण करते हैं, परन्तु अनुमान के अनन्तर शब्द प्रमाण का निरूपण करने का कारण क्या है ? यह प्रथमतः बतलाना चाहिये। शब्द तथा अर्थ इनके सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं इस ज्ञानशक्ति के बिना सुने हुये शब्द का अर्थ जानना अशक्य है। अतएव शब्द व अर्थ इनके सम्बन्ध का ज्ञान होना परमावश्यक है और वह ज्ञान प्रथमतः व्यवहार देखकर ही होता है। जैसे—(प्रयोजकेति) कोई एक वयोवृद्ध या ज्ञानवृद्ध प्रयोजक-प्रेरक मनुष्य ने प्रयोज्य (आज्ञापालक) शिष्य वा पुत्र को 'गामानय' कहा, यह आज्ञा करने पर शब्द सुनते ही वह शिष्य उस क्रिया में प्रवृत्त होता है। उसको क्रिया में प्रवृत्त हुआ देख समीपस्थ शब्द व्युत्पत्ति की इच्छा करने वाला बालक (मन में सोचता है कि) इस पुरुष की चेष्टा (क्रिया) प्रवृत्ति के आश्रय है, क्योंकि

"चेष्टा प्रवृत्ति के आश्रय रहती है" ऐसा नियम है, जैसे मेरी स्वतः की चेष्टा ऐसा प्रथम अनुमान करके चेष्टा-हेतु द्वारा प्रवृत्ति की सिद्धि करता है। बाद इसकी प्रवृत्ति इष्ट साधनता ज्ञानाधीन है, कारण प्रवृत्ति इष्ट ज्ञानाधीन रहती है। जैसे मेरी वस्त्रादिकों में होने वाली प्रवृत्ति, ऐसा दूसरे अनुमान का अनुसंधान करके-प्रवृत्ति इस कार्य लिंग द्वारा इष्ट साधनता ज्ञान इस पुरुष में है, ऐसा वह बालक सिद्धान्त बांधता है, और उस इष्ट साधनता ज्ञान का "गामानय" यह वृद्ध पुरुष का वाक्य ही कारण है। ऐसा वह बालक मन में प्रथम ठहरा कर पश्चात् इस वाक्य का ऐसे अर्थ से सम्बन्ध है यह बात उसको मालूम होती है, तात्पर्य यह है कि प्रायः पूर्वोक्त क्रम से ही सब शब्दों का उस २ अर्थ से रहने वाला सम्बन्ध व्यवहार द्वारा मालूम होता है इससे अर्थ व शब्द इनके सम्बन्ध का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। यह निश्चय सिद्ध हुआ और जब अनुमान के विना शब्द ज्ञान अशक्य सा है तो अनुमानान्तर शब्द प्रमाण का निरूपण योग्य ही है, उस शब्द का लक्षण "आप्त श्रुतिराप्तवचनं" ऐसा है।

तत्राप्त बचनमिति लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं लक्षणम्। आप्ता प्राप्ता-युक्तेतियावद्, आप्ताचासौ श्रुतिश्चेत्याप्त श्रुतिः। श्रुतिः— वाक्य जनितं वाक्यार्थज्ञानम्।

अर्थ—उपरोक्त लक्षण में 'आप्तवचनं' कहकर लक्ष्य कानिर्देश किया है, और शेष "आप्त श्रुति" यह लक्ष्य (शब्द) का लक्षण है, आप्त याने प्राप्त वा युक्त, इसका समास से ऐसा अर्थ होगा कि आप्त वा युक्त ऐसी जो श्रुति वही आप्त श्रुति कहाती है, और श्रुति का अर्थ वाक्य द्वारा उत्पन्न होने वाला वाक्यार्थ का ज्ञान, वही आप्त बचन प्रमाण है, अर्थात् योग्यतादि धर्मों से युक्त शब्द बोध ही प्रमाण का कारण है।

तच्चस्वतः प्रमाणम्—अपौरुषेय वेदवाक्य जनितत्वेन सकल दोषाऽऽशङ्का विनिर्मुक्तेर्युक्तंभवति, एवं वेद मूलस्मृतीतिहासपुराण वाक्य जनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति।

अर्थ—(तच्च) वह स्वतः प्रमाण भूत वाक्यार्थ ज्ञान अपौरुषेय जो

वेद उससे उत्पन्न होने के कारण सर्व दोष रहित है, इसीसे वह युक्त है, इसी तरह अपौरुषेय वेद वाक्योत्पन्न ज्ञान के सदृश ही वेद का आधार लेकर निर्माण किये गये स्मृति, इतिहास, पुराण, इनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी युक्त है।

आदि विदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तराधीत श्रुति स्मरण-सम्भवः। सुप्त प्रबुद्धस्येव पूर्वेद्यु रवगतानमर्थानामपरेद्युः, तथाचा ऽऽवट्य जैगीषव्य संवादे भगवान् जैगीषव्यो दशमहाकल्पवर्तिजन्म स्मरणमात्मनउवाच—"दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्तमानेन मया" इत्यादिनाग्रन्थ सन्दर्भेण।

अर्थ—प्रथम ज्ञानी जो कपिलदेव जी उनको, सोकर (शयन करके) उठे हुये मनुष्य को जैसे पहिले दिन की पढ़ी हुई बातोंका दूसरे दिन जैसा का तैसा ही स्मरण होता है, तद्वत् कल्प के आरम्भ में पूर्व कल्प पठित श्रुति का स्मरण होना सम्भव है क्योंकि अवट्य जैगीषव्य संवाद में भगवान जैगीषव्य जी ने (दश महा कल्पेषु) इस बचन से दश महा कल्पों में प्राप्त हुऐ जन्मों का मुझे स्मरण है ऐसा कहा है, इससे उपरोक्त बात सिद्ध है।

आप्त ग्रहणेन चाऽयुक्ताः शाक्य भिक्षु निर्ग्रंथक संसारमोचका दीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति। अयुक्तत्वं चैतेषां विगानाद् विच्छिन्न मूलत्वात्, प्रमाण विरुद्धार्थाभिधानाच्च कैश्चिदेवम्लेच्छादिभिः पुरुषाप-सदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद्वोद्धव्यम्। तु—शब्देनानुमानाद्व्यवच्छिनत्ति,

अर्थ—(आप्तेति) शब्द प्रमाण को आप्त वचन यह यथार्थ नाम योजित किये जाने के कारण आप्तेतर बौद्ध, जैन, चार्वाक, इत्यादि अनाप्तों के वचन प्रमाण भूत नहीं हो सकते यह बात स्वयं सिद्ध है, कारण जो प्रमाद भ्रम, इत्यादि दोषों से रहित हो, वही आप्त (श्रेष्ठ) है, अतः उपरोक्त दर्शित कराये गये बौद्ध जैनादिकों के शास्त्र आगमाभास मात्र हैं तथा उन ग्रन्थों में कुछ भी नवीनता न होकर मनः कल्पित वेद प्रमाण शून्य अनेक कल्पना की गई हैं अर्थात आप्त बचन होकर भी आप्त बचन का भास होने को ही आगमाभास कह सकते हैं, बौद्ध चार्वाकादि ग्रंथ वेद प्रमाण रहित हैं, इतना ही नहीं उनमें परस्पर अनेक मतभेद भी हैं तथा उनके मत को शिष्ट लोग कभी

स्वीकार नहीं करते, परन्तु शौचाचार शून्य, भ्रष्ट, पशुतुल्य व्यवहार करने वाले म्लेच्छलोग केवल उसके मतानुयायी होते हैं अर्थात् ऐसे मतों का, शुद्ध सत्व वैदिक लोगों को त्याग देना ही श्रेयस्कर है, इस कारिका के अंत में 'तु' यह शब्द–अनुमान से शब्द प्रमाण प्रथक है यह सूचित करने के लिये है।

वाक्यार्थो हि प्रमेयो न तु तद्धर्मो वाक्यं येन तल्लिङ्गं भवेत्। न च वाक्यं वाक्यार्थं बोधयत्संबन्धग्रहणमपेक्षते, अभिनव कवि विरचितस्य वाक्यस्याऽदृष्ट पूर्वस्याऽननुभूत चर वाक्यार्थ बोधकत्वादिति।

अर्थ—यह शब्द प्रमाण अनुमानसे प्रथक क्यों व कैसे है? यह बताया जाता है, वैशेषिक मतानुयायी–शब्द श्रवण करने के पश्चात् वाक्य का अर्थ समझ में आता है और वह अर्थ ज्ञान अनुमित ज्ञान रूप है, ऐसा कहते हैं, परन्तु नैयायिकों को यह कथन सर्वथा मान्य नहीं है, अर्थात् शब्द श्रावणानन्तर अर्थ ज्ञान होता है इस बात से केवल सहमत हैं, परन्तु अनुमिति ज्ञान से वह बोध प्रथक है, ऐसा नैयायिकोंका कथन है और यही बात 'तु' शब्द से सूचित की है, नैयायिकों के कथन का तात्पर्य यह है कि वाक्य ज्ञान द्वारा होने वाला बोध अनुमित रूप नहीं है, कारण अनुमिति ज्ञान की आवश्यक सामग्री लिङ्ग परामर्शादि कारणों का अभाव होने पर भी वाक्यार्थ ज्ञान की प्रतीति (उत्पत्ति) होती है, अस्तु, यदि आप वाक्य को लिङ्ग मान कर तत् द्वारा होने वाले अर्थ ज्ञान को अनुमिति रूप कहेंगे तो यह ठीक न होगा, क्योंकि जो जिसका स्वाभाविक धर्म होता है वही उसका हेतु (लिङ्ग) हुआ करता है ऐसा सिद्धान्त है। (और) वाक्यार्थका वाक्य यह कुछ धर्म नहीं है, वह धर्म होता तो धर्म धर्मी की व्याप्ति होनी चाहिये थी और ऐसा होता तो हम भी लिंग परामर्शादिकों के द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान की अनुमिती होती है यह बात कबूल कर लेते परन्तु "शब्द प्रमाण का वाक्यार्थ ज्ञान यह प्रमेय है" यह ख्याल में रखना चाहिये। इस पर यदि कोई ऐसी शंका करे कि जो जिसका धर्म हो, उसीको उसका लिङ्गभी होना चाहिये? तो ऐसा कुछ नियम नहीं है, जैसे आकाश में बड़े भारी मेघ को देख बृहत्काय मेघ कुछ बृष्टि का धर्म नहीं है तो भी

वृष्टि का हेतु हो सकता है अर्थात् मेघ को देख कर 'आज खूब जलवर्षा होगी' ऐसा अनुमान कर लेते हैं। इससे बोध का जो हेतु है उसी को (लिङ्ग) हेतु कहना चाहिये परन्तु यह उक्त कथन निरर्थक है क्योंकि बोध के हेतु को ही जो लिङ्ग कहने लगेंगे तो चक्षु श्रवण इत्यादि भी रूप शब्द इत्यादि (विषय) लिङ्ग होने लगेंगे, इससे व्याप्यत्व को ही लिङ्गत्व का कारण समझना श्रेयस्कर तथा सुलभ होगा 'धूम में अग्नि व्याप्यत्व है, अतः अग्नि का धूम यह लिङ्ग हो सकता है परन्तु प्रकृतस्थल में तो व्याप्य व्यापक का सम्बन्ध ही नहीं है। क्योंकि कोई भी वाक्य वाक्य के अर्थ का बोध करते समय व्याप्ति रूप सम्बन्ध ज्ञान की या पक्ष धर्मता ज्ञान की बिल्कुल अपेक्षा नहीं करता उलटे शब्द और अर्थ इनके सम्बन्ध रूप शक्ति ज्ञान की अपेक्षा करता है, यदि उक्त कथनानुकूल न होता याने वाक्य को व्याप्ति ज्ञान की आकांक्षा होती तो कोई एक नवीन कवी कृत वाक्यों से पहले न देखे हुये न अनुभव किये हुये वाक्यार्थ का जो बोध होता है वह कभी न होता।

एवं प्रमाणसामान्यलक्षणेषु तद्विशेषलक्षणेषु च सत्सु यानि प्रमाणान्तराण्युपमानादीनिप्रतिवादिभिरभ्युपेयन्ते तान्युक्तलक्षणेष्वेव प्रमाणेष्वन्तर्भवन्ति।

इस तरह हमको तीन प्रमाण मान्य हैं, परन्तु ऐसा होते हुये भी कई मीमांसकादिवादी-उपमान, अर्थापत्ति, आदि दूसरे भी प्रमाण मानते हैं, परन्तु उनका यह मानना निरर्थक है क्योंवि उन सब प्रमाणों का उपरि निर्दिष्ट लक्षणों से युक्त जो प्रमाण हैं उन्हीं में अन्तर्भाव होता है।

तथाहि—उपमानं तावद् यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यं तज्जनिता धीरागम एव। योऽप्ययं गवय शब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः सोऽप्यनुमानमेव, योहि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यतेसोऽसति वृत्यन्तरे तस्यवाचकः यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैष गवय शब्दो गो सदृश इति तस्यैव वाचक, इति तज्ज्ञानमनुमानमेव।

अर्थ—परन्तु उपमानादि प्रमाणों का उक्त तीन प्रमाणों में कैसे अन्तर्भाव होता है यह जानने के लिये कहते हैं। (तथाहि) उपमित ज्ञान

के कारण को उपमान कहते है, किसी ग्रामीण मनुष्य को जानने के लिये आप्त पुरुष द्वारा उच्चारित 'गोसदृशोगवयः' अर्थात् गो के सदृश गवय जानवर जंगल में होता है यही वाक्य उपमान है,तथा इस शब्द द्वारा उत्पन्न ज्ञान बुद्धि ही शाब्द बोध कहलाता है क्योंकि उपमान यह चतुर्थ प्रमाण मानने वाले नैयायिकादि, गवय शब्द द्वारा बतलाये जाने बाला पदार्थ कौनसा है ? यह जानने को जिसको इच्छा है उसको (गो के सदृश गवय होता है) यह पूर्वोक्त आप्त वाक्य सुन कर गो पदार्थ यह गवय शब्द का अर्थ है, यह बोध होता है, पश्चात् बह जब कभी बन में जाता है तब पूर्व दृष्ट गो पशु को देख आप्त वाक्य का स्मरण करता है, बाद में यही पदार्थ गवय है ऐसा उसको बोध होता है। इसी को उपमित कहते हैं, इसी उक्त आप्त वाक्य को उपमित का कारण याने उपमान मानना चाहिये, ऐसा नैयायिकों का कहना है परन्तु प्रकृत स्थल में हमारा यही कथन है कि स्मरण किये गये वाक्य से उत्पन्न होने बाली बुद्धि को शाब्द बोध कहना ही योग्य होगा। सारांश जबकि शब्द प्रमाण ही से इसकी ठीक २ व्यवस्था हो जाती है, तो एक नवीन प्रमाण की कल्पना करना व्यर्थ है, इस पर यदि कदाचित नैयायिक ऐसा कहें कि श्रवण किया हुआ या स्मरण किये गये वाक्य से 'गोसदृश्य' है ऐसा जाना भी जाता है। परन्तु शब्द बोध में शब्द द्वारा उपस्थित होने वाले पदार्थ ही का बोध हुआ करता है ऐसा नियम है और 'गोसदृश गवय' इस वाक्यान्तर्गत शब्दों से गवय पदार्थ की उपस्थिती नहीं होती, इसीसे गवय यह शब्द गोसदृश पदार्थ का बाचक है यह केवल प्रमाण द्वारा सिद्ध होना अशक्य है और इसी अड़चन को दूर करने के लिये उपमान प्रमाण को स्वीकार करना चाहिये, किंतु यह नैयायिकोंको कहना हमको मान्य नहीं है,क्योंकि 'गवय शब्द गोसदृश पदार्थ का वाचक है' इस तरह का जो प्रत्यय हुआ करता है वह अनुमान ही है। जैसे कि (प्रतिज्ञा) गवय शब्द गोसदृश पदार्थ का वाचक है, (हेतु) क्योंकि आप्त इसका प्रयोग उसी अर्थ में किया करते हैं, वृद्ध (आप्त) जिस शब्द को जिस अर्थ में योजित करते हैं, वह उसी अर्थ का बाचक हुआ करता है। जैसे गोत्वधर्म से युक्त पदार्थ के बिषय में योजित किया गया 'गो' यह शब्द।

इस अनुमान द्वारा उपरोक्त अड़चन नहीं प्राप्त होती, यह हमारे कथन से सिद्ध है, आप्त गवय शब्द को गोसदृश पदार्थ के विषय में योजित किया करते हैं इसी से वह उसका (गो) वाचक है, यह ज्ञान अनुमान ही है ।

यत्तु गवयस्य चक्षुः सन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्ष मेव, अतएवस्मर्यमाणायां गांव गवयसादृश्यज्ञानंप्रत्यक्षं, नह्यन्यद् गांव सादृश्यमन्यच्चगवये, भूयोऽवयवसामान्ययोगोहि जात्यन्तर वर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते, सामान्य योगश्चैकः, सचेद्गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथा, इति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति यत्र प्रमाणान्तर मुपमानंभवेद्, इति न प्रमाणान्तरमुपमानम् ।

अर्थ—(यत्तु) और जो प्रत्यक्ष स्थित गवय गो सदृश है, ऐसा ज्ञान होना यह प्रत्यक्ष ही है (अतएव) इसलिये वह प्रत्यक्ष ज्ञान होने के कारण ही जिसका स्मरण किया जाता है, ऐसो गौ में रहने वाला गवय का सादृश्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान है (नह्यवच्च) क्योंकि गौ का गवय सादृश्य ज्ञान और गवय स्थित गोसादृश्य ज्ञान यह दोनों पृथक् २ हैऐसा कभीभी नहीं कह सकते,क्योंकि एक जाति के अवयव दूसरे जातिके सदृश होने ही को सादृश्य कहते हैं,इसलिये जिन दोनों का अवयव सामान्य सादृश्य एक ही है । उनमें से यदि गवय के अवयवों का गोसादृश्य प्रत्यक्ष होचुका, तो गौ के अवयवों का गवय सादृश्य भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिये, सारांश (नोपमान) उपमान प्रमाण का प्रथक् प्रमेय नहीं है । अतः उपमान यह अलग प्रमाण भी नहीं है, इससे यह सिद्ध हुआ कि उपमान कुछ प्रमाणान्तर नहीं है, बल्कि उक्त तीनों प्रमाणों में ही इसका समावेश होता है ।

एवमर्थापत्तिरपि न प्रमाणान्तरम्,तथाहि–जीवतश्चैत्रस्य गृहाभाव दर्शनेन वहिर्भावस्याऽदृष्टस्य कल्पनमर्थापत्तिरभिमता वृद्धानां, साऽप्यनुमानमेव ।

अर्थ—(एवं) वैसे ही अर्थापत्ति यह भी प्रथक् प्रमाण नहीं है । (तथाहि) जैसे कि–जीवित चैत्र नामक पुरुष अपने घर में नहीं है, ऐसा देख कर प्रत्यक्ष न देखे हुये चैत्र की बाहर रहने की कल्पना करना यही अर्था-

पत्ति है, ऐसा मीमांसकादिकों को मान्य है, परन्तु हमारे मत से वह अनुमान ही है।

यदाखलु सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति, यदाऽव्यापक एकत्रास्ति तदान्यत्र नास्तीति सुकरः स्वशरीरे व्याप्तिग्रहः तथाचसतो गृहाभावदर्शनेन लिंगेन वहिर्भावदर्शनमनुमानमेव।

अर्थ—(यदा) क्योंकि जब एक देशी विद्यमान पदार्थ एक जगह नहीं रहता तब वह अन्य जगह रहता है, तथा वह अव्यापक जब एक जगह रहता है, तब अन्य जगह में नहीं रहता, ऐसी अपने शरीर के दृष्टान्त से ही व्याप्ति समझी जाती है, (तथाच) अर्थात् विद्यमान पदार्थ घर में नहीं है, इस लिंग (हेतु) द्वारा उसका अस्तित्व अन्य जगह है, यह समझना अनुमान ही है।

न च चैत्रस्य कचित्सत्वेन गृहाभावः शक्योऽपह्नोतुं यतोऽसिद्धो गृहाभावो वहिर्भावे न हेतुःस्याद्। न च गृहाभावेन वा सत्वमपह्नूयते। येनसत्वमेवानुपपद्यमानमात्मानं न बहिरवस्थापयेत्।

अर्थ—(न च) अब यदि कोई यह कहे कि विद्यमान चैत्र का गृहाऽभाव यही मूल में असिद्ध है अर्थात् वह घर में नहीं है ऐसा कहना ही अशक्य है ? तो यह कहना युक्त नहीं है,क्योंकि चैत्र का अस्तित्व किसी स्थल विशेष में हो करके वह घर ही में हैं, ऐसा कहना शक्य नहीं है तथा प्रमाणतः सिद्ध होने वाला चैत्र का गृहाऽभाव उस (चैत्र) के बाहर अस्तित्व विषय में हेतु नहीं हो सकता, यह भी कहना युक्त नहीं हो सकता, अर्थात् वह घर में तो नहीं है, परन्तु विद्यमान है। ऐसा जानने के पश्चात् वह कहीं पर तो होगा ही, ऐसी कल्पना होना युक्त है, तथा वह भी अनुमान द्वारा ही होती है, अब यदि कोई पंडित मन्य यह कहे कि जो घर में नहीं है वह विद्यमान भी कैसे रहेगा ? कारण एक ही पदार्थ का भाव-अभाव नहीं हो सकता, इस शंका के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि (न च) चैत्र के गृहाभाव से वह विद्यमान ही नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, कि जिसके योग से उसके अस्तित्व ही की अनुपपत्ति होकर उसके रहने की असिद्धि हो जाय।

तथाहि-चैत्रस्य गृहासत्वेन सत्त्र मात्रं विरुद्ध्यते, गृहसत्वं वा, न तावद्यत्र क्वचन सत्वस्यास्ति विरोधो गृहासत्वेन, भिन्न विषयत्वाद् ।

अर्थ—(तथाहि) उपरोक्त शंका प्रगट करने वालों से हम यह पूंछते हैं कि 'चैत्र घर में नहीं है' ऐसा कहने से चैत्रके अस्तित्व ही से विरोध होता है, या केवल गृह में रहने से ? हमारे मत से तो बात यह है कि उसका घर में न होना तथा कोई स्थल विशेष में होना इन दोनों के विषय भिन्न २ हैं, हां घर में होना व घर में न होना, बाहर होना व न होना, इनमें परस्पर विरोध हो जायगा, परन्तु प्रकृत स्थल में (उदाहरण में) विरोध होना शक्य ही नहीं है।

देश सामान्येन गृहविशेषाक्षेपोऽपि पाक्षिक इति समानविषयतया विरोध इति चेद्, न, प्रमाण विनिश्चितस्य गृहेऽसत्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्वेन प्रतिक्षेपायोगाद् ।

अर्थ—जीवित चैत्र का कोई एक सामान्य देश अस्तित्व का विषय है, तथा गृह यह विशेष देश उसके अभाव का विषय है अर्थात् दोनों के विषय भिन्नत्व के कारण कोई विरोध नहीं है, इस पर मीमांसकों की यह शंका है कि (देश सामान्येन) चैत्र विद्यमान है ऐसा कहने पर वह चैत्र जिसका आश्रय करके रहता है, उस सामान्य देश का अप्रत्यक्ष रीति से बोध होता है और समान्य देश के बोध द्वारा सामान्य देशान्तर गत गृह रूप विशेष देश का भी तद्वत अप्रत्यक्ष रीति से बोध होना शक्य है, क्योंकि विशेष से सामान्य व्यापक रहता है, ऐसा नियम है, इससे एक पक्ष से चैत्र घर में है ऐसा सिद्ध होता है और वह तो घर में नहीं है, बस यही विरोध आता है, तात्पर्य यह है कि हमने जो पूर्व में भाव तथा अभाव का विषय भिन्न है, यह प्रतिपादन किया था, उस को असिद्ध करने के लिये यह जो उक्त प्रयत्न किया (दोनोंका एक ही विषय है भिन्न नहीं) है सो यह प्रयत्न शरद् मेघवत् फोल है क्योंकि (प्रमाण) प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध किया गया, चैत्र का गृहाभाव एक पक्ष से प्राप्त होने वाला व संशय युक्त (शायद गृह में हो) ऐसे गृहान्तर्गत भाव के योग से दूर करना अशक्य है अर्थात् नहीं कर सकते ।

नापि प्रमाणविनिश्चितो गृहाभावः पाक्षिकमस्य गृहसत्वं प्रतिक्षिपन् सत्वमपि प्रतिक्षेप्तुं सांशयिकत्वं च व्यपनेतुमर्हतीतियुक्तं, गृहावच्छिन्नेन चैत्राभावेन गृह सत्वं विरुद्धत्वात् प्रतिक्षिप्यते न तु सत्वमात्रं, तत्रतस्यौदासीन्याद् ।

अर्थ—(नापि) वैसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित किया गया, चैत्र का अभाव पूर्वोक्त एक पक्ष से प्राप्त होने वाले भाव को दूर करता है, यद्यपि यह सत्य है तो भी चैत्र के अस्तित्व का ही वह नाश करता है या वह जीवित है कि नहीं, इस संशय का निरसन कर सकता है, यह कहना ठीक नहीं अर्थात चैत्र घर में नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष देखने से वह घर में होगा, इस संशय की जब निवृत्ति हो जाती है, तब वह जीवित नहीं है, ऐसा सिद्ध नहीं होता, तथा वह जीवित है कि मृत इस संशय की भी निवृत्ति नहीं होती क्योंकि(गृहावच्छिन्नेन) गृह से मर्यादित हुआ चैत्र के अभाव का–चैत्र के गृहान्तर्गत अस्तित्व से विरोध है, इससे वह केवल चैत्र के गृहान्तर्गत अस्तित्व ही का निरास करता है न कि जीवित का, क्योंकि गृह से मर्यादित चैत्रका अभाव उसके किसी एक जगह रहने से विरोध नहीं करता बल्कि उस विषय में वह उदासीन है ।

तस्माद् गृहाभावेन लिंगेनसिद्धेनसतो वहिर्भावोऽनुमीयत इतियुक्तम् । एतेन विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषय व्यवस्थयाऽविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषय इति निरस्तम्, अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नयोर्विरोधाभावाद् ।

अर्थ—(तस्माद्) तस्मात् गृहाऽभाव अर्थात् घर में न होना इस सिद्ध हुये लिंग द्वारा विद्यमान चैत्रादि पदार्थों का वाह्य अस्तित्व अनुमान द्वारा सिद्ध होता है, ऐसा कहना ही युक्त है, (एतेन) इतना बतलाने से परस्पर विरुद्ध दो प्रमाणों के विषयकी व्यवस्था करके तदन्तर्गत बिरोध निकाल डालना यही अर्थापत्ति का विषय है, ऐसा जो मीमांसकों का कथन है उसका निराकरण हुआ, क्योंकि (अविच्छिन्नेति) गृहावच्छिन्न अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होकर गृह के योग से अविच्छन्न न हुआ, भाव अनुमानका विषय होनेके कारण परस्पर किञ्चितमात्र विरोध नहीं है ।

उदाहरणान्तराणि–चार्थापत्तेरेवमेवाऽनुमानेऽतर्भावनीयानि, तस्मान्नाऽनुमानात् प्रमाणान्तरमर्थापत्तिरितिसिद्धम् ।

अर्थ—हमने दिग्दर्शनार्थ यहां पर एक उदाहरण द्वारा अनुमानान्तर्गत उसका (अर्थापत्तिका) समावेश जैसे किया जाता है सो बतलाया है। इसी तरह और भी जो अर्थापत्ति के उदाहरण होवें उनका भी अनुमान में समावेश कर लेना चाहिये (तस्माद्) सारांश अर्थापत्ति यह अनुमान से प्रथक नहीं है, यह बात सिद्ध हो चुकी।

एवमभावोपि प्रत्यक्षमेव, नहि भूतलस्य परिणामविशेषात्कैवल्यलक्षणादन्योघटाभावो नाम, प्रतिक्षणपरिणामिनोहि सर्व एव भावा ऋते चितिशक्तेः, सच परिणाम भेद ऐन्द्रियक इति नास्ति प्रत्यक्षानवरुद्धो विषयो यत्राऽभावाह्वयं प्रमाणान्तरभ्युपेयेतेति।

अर्थ—(एवं) इसी तरह अभाव वा अनुपलब्धि यह भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, मीमांसक तथा वेदान्ती अभाव ज्ञान प्राप्त होने पर, उसका जो यहां घट होता तो घट युक्त भूतल प्रत्यक्ष दिखाता सो नहीं है, ऐसा मानते हैं। परन्तु यह मानना व्यर्थ है। क्योंकि (नहि) अभाव यदि कोई भिन्न वस्तु होती तो उसके ज्ञान का योग्य, प्रतियोगी की अनुपलब्धि यह साधन होता परन्तु अभाव यह वास्तविक कोई प्रथक वस्तु ही नहीं है वह केवल अधिकरण (आश्रय) रूप रहता है अर्थात् भूमि पर न रहने वाले घट की भूमि यही स्वरूप है, उदाहरणार्थ–घट का अभाव यह एक भूतल ही का परिणाम है परन्तु भूतल के घटादि परिणामों की अपेक्षा उक्त परिणाम में कुछ विशेषता है वह यह है कि घटादि परिणाम भूतल से प्रथक आकार के हुआ करते हैं और घट का अभाव केवल भूतल रूप ही रहता है। शंका–केवल भूतल को आप परिणाम कैसे कह सकते हैं? इस पर हमारा इतना ही कहना है कि (प्रतिक्षण) एक चैतन्य शक्ति के अतिरिक्त सब विद्यमान भाव पदार्थ प्रतिक्षण में परिणाम पाने वाले हैं, (सच) वह भूतल के एक प्रकारका परिणाम इन्द्रियों का विषय हुआ करता है, इसीसे यह अभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय न होने वाला पदार्थ है, अतः अभाव प्रथक माननेकी वस्तु है ऐसा नहीं कह सकते।

संभवस्तु–यथा खार्य्यां द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमः, सचानुमानमेव, खारीत्वं हि द्रोणाद्यविनाभूतं प्रतीतं खार्य्यां द्रोणादि सत्वमवगमयति।

अर्थ—कई एक पुराणवादी 'सम्भव' यह सातवां प्रमाण मानते हैं, (यथा) जैसे—एक खारी में (यह एक बजन का नाम है) द्रोण, आढ़क, प्रस्थादिकों का अन्तर्भाव होता है और यह जानना इसीको सम्भव कहते हैं, परन्तु हमारे मत से (सच) वह भी अनुमान ही है, क्योंकि (खारित्वं) खारी यह बिना द्रोण, आढ़क, प्रस्थादिकों के नहीं रह सकती, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है, तथा बड़े परिणामों में छोटे परिमाण का न रहना यह न्याय सिद्ध बात है। अर्थात् खारी का परिमाण द्रोण, आढ़क, प्रस्थादिकों को व्याप्त कर रहने वाला है। और व्यापक जहां हो वहां व्याप्य रहता ही है यह सिद्धान्त है, अतः खारी में व्याप्य द्रोणादि परिमाण अवश्य रहते हैं। यह ज्ञान अनुमानही से होता है (सारांश-जबकि अनुमान से हमारा काम ठीक हो जाता है तो अन्य सम्भावादिकों की क्या गरज ?)

यच्चानिर्दिष्ट प्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्य्यमात्रम् 'इतिहोचुर्वृद्धा' इत्यैतिह्यं, यथा 'इहवटेयक्षः प्रतिवसति' इति, न तत् प्रमाणम्, अनिर्दिष्ट प्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वाद्। आप्तवक्तृकत्वनिश्चयेत्वागमएव, इत्युपपन्नं त्रिविधं प्रमाणमिति॥ ५॥

अर्थ—पौराणिक 'ऐतिह्य' नामक आठवां प्रमाण मानते हैं। (यच्चेति) जिसका वक्ता कौन है यह मालूम न होकर 'वृद्धलोग कहते हैं' इस तरह परम्परा ही से केवल कथारूप जो बातें हैं, उसको 'ऐतिह्य' कहते हैं। जैसे—इस बटवृक्ष पर भूत है। परन्तु यह बात प्रथम किसने बतलाई इसका पता नहीं लगता, तथा वह वृद्ध परम्परा चिरकाल से रूढ़ हुई है, अतः इस तरह के वाक्य (न तत्) प्रमाणीभूत नहीं हो सकते, क्योंकि (अनिर्दिष्ट) उनका मूल वक्ता कौन है, इसका पता न लगने से उस विषय में शंसय होता है और संशयित ज्ञान कभी भी प्रमाणीभूत नहीं होता। अस्तु-यदि (आप्तेति) ऐसी बातों का वक्ता आप्त (श्रेष्ठ) है ऐसा निश्चय हो जावे तो वह आगम प्रमाण ही है, सारांश-प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तबचन, ऐसे प्रमाण तीन हीं हैं। यह जो हमने उक्तरीति से दिखाया सो ही युक्त है ॥ ५ ॥

एवं तावद् व्यक्ताव्यक्तज्ञलक्षणप्रमेयसिद्ध्यर्थं प्रमाणानिलक्षितानि,

तत्रव्यक्तंपृथिव्यादिस्वरूपतः पांशुलपादको हालिकोपि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, पूर्ववता चानुमानेन धूमादिदर्शनाद्‌वह्न्यादीनि, इति तद्‌व्युत्पादनाय मन्द प्रयोजनं शास्त्रम्, इति दुरधिगममनेन व्युत्पादनीयं, तत्र यत्प्रमाणं यत्र शक्तं तदुक्तलक्षणेभ्यः प्रमाणेभ्यो निष्कृष्यदर्शयति–"सामान्यतस्तु" इति,

अर्थ—इस तरह व्यक्त, अव्यक्त, ज्ञ, यह जिसका लक्षण है, ऐसे प्रमेय सिद्धि के लिये प्रमाणों के लक्षण दर्शाये गये। (तत्रेति) उसमें व्यक्त जो पृथिव्यादि पदार्थ (घटपट पाषाणादि) उसे जिसके पाद धूलि से भरे हैं ऐसा मूर्ख हल चलाने वाला भी जानता है, (पूर्ववतेति) तद्वत् उक्त पूर्व संज्ञक–अनुमान के द्वारा धूमादि लिंग देखकर अग्नि सदृश साध्यका भी उसको सहज ज्ञान होता है, (इति व्युत्पादनायेति) अर्थात् ऐसी बातों के लिये (जो मूर्खादिकोंको भी समझमें आजाती हैं)शास्त्र में प्रवृत्त होना अयोग्य(व्यर्थ) है (इति दुरधि०) इस कारण से जिन बातों का ज्ञान होना अत्यन्त कठिन हो, उन्हीं के लिये शास्त्र में प्रवृत्त होना योग्य है। अर्थात् जिन बातों का ज्ञान बहुत बिचार करने पर भी समझने में अशक्य हो वही बात शास्त्र को बतलाना चाहिये, (तत्रेति) इससे प्रथम बतलाये गये लक्षणों से युक्त–प्रमाणों में से कौन सा प्रमाण किस को सिद्धि करने में समर्थ है यह स्पष्टतया बतलाते हैं।

सामान्यतस्तुदृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्॥ ६॥

अर्थ—सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा प्रधान, पुरुष, आदि इन्द्रियातीत पदार्थों का ज्ञान होता है तथा सामान्यतोदृष्ट व शेषवत् अनुमान द्वारा जिसकी सिद्धि नहीं होती, ऐसे परोक्षतत्व का ज्ञान आगम प्रमाण से सिद्ध होता है।

तु–शब्दः प्रत्यक्षपूर्ववद्‌भ्यांविशिनष्टि, सामान्यतोदृष्टादनुमानाद्= अध्यवसायाद् अतीन्द्रियाणां=प्रधानपुरुषादीनां प्रतीतिः=प्रतिपत्तिः, (चिच्छायापत्तिर्बुद्धेरध्यवसायइत्यर्थः) उपलक्षणंचैतद् शेषवत् इत्यपि द्रष्टव्यम्।

अर्थ—कारिका में 'तु' ऐसा जो शब्द है वह प्रत्यक्ष तथा पूर्ववत् अनुमान से सामान्यतोदृष्ट को प्रथक करता है। अर्थात् प्रत्यक्ष तथा पूर्ववत इनके

द्वारा सिद्ध न होने वाले अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति सामान्यतोदृष्ट तथा शेष वत् अनुमान द्वारा होती है ऐसा जानना, (चिच्छायेति) (बुद्धिवृत्तिरूप अध्यवसाय अनुमिति का साधन है, यह हम पूर्व ही बता चुके हैं, उसी के अनुरोध से प्रकृतस्थल में अनुमान याने अध्यवसाय ऐसा जानना) शेषवत् का यहां प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया तथापि उपलक्षण से उसका भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

तत्किंसर्वेष्वतीन्द्रियेषु सामान्यतोदृष्टमेव प्रवर्त्तते, तथा च यत्र तन्नास्तिमहदाद्यारम्भकमेस्वर्गापूर्वदेवतादौच तेषामभावः प्राप्त, इत्यत आह–"तस्मादपि" इति, 'तस्मादपि' इत्येतावतैव सिद्धे चकारेणशेषवत इत्यपिसमुच्चितम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(तत्किमिति) तो क्या सभी अतीन्द्रिय पदार्थों में सामान्यतो दृष्ट व शेषवत अनुमान की प्रवृत्ति होती है ? ऐसा नहीं, क्योंकि (तथेति) सब अतीन्द्रिय पदार्थों में इनकी प्रवृत्ति मानने से जहां पर उनकी प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा महदादितत्वों का आरम्भक्रम, स्वर्ग, अपूर्वदेवता आदि पदार्थों का अभाव प्राप्त होगा। इसीलिये 'तस्मादपि च' यह हेतु मूल में दिया है, इसका अर्थ यह है कि—तस्मात् सामान्यतोदृष्टसे तथा 'च' से शेषवत का समुच्चय करे, अर्थात् शेषवत अनुमान से जिन परोक्ष पदार्थों की प्रतीति नहीं होती उनकी सिद्धि आगम प्रमाण द्वारा होती है।

स्यादेतद्—यथा गगनकुसुमकूर्मरोमशशविषाणादिषु प्रत्यक्षमप्रवर्त-मानं तदभावमवगमयत्येवं प्रधानादिष्वपि, तत्कथं तेषां सामान्यतोदृष्टा-दिभ्यः सिद्धिरिति, अत आह "अतिदूराद्" इति।

अर्थ—इस विषय में यदि कोई ऐसा कहे कि (यथेति) जैसे आकाश में पुष्प, कछुये के केश, ससे के सींग, इत्यादि पदार्थों के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त न होने के कारण तत् तत् वस्तु का वह प्रमाण अभाव सूचित करता है, वैसे ही प्रधानादिकों के विषय में प्रवृत्त न होने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण उनका भी अभाव सूचित करता है, ऐसा समझना चाहिये, परन्तु (तत्कथमिति) उक्त प्रकार होते हुये भी आप सामान्यतोदृष्ट द्वारा सिद्धि होती

है, ऐसा कैसे कहते हैं ? इसी शंका के निराकरणार्थ ग्रन्थकार "अतिदूरात्" इससे निराकरण करते हैं।

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

अर्थ—कोई पदार्थ अति दूर होने से अथवा अति समीप होने से भी देख नहीं पड़ता, तद्वत् इन्द्रियों का नाश होने से, मन कामादि दोष युक्त होने से, वस्तु सूक्ष्म होने से बीच के व्यवधान (परदा) से, तेज नष्ट हो जाने से, तथा दूसरे पदार्थ में मिलित होजाने से, वस्तु का ज्ञान नहीं होता।

'अनुपलब्धिः' इति वक्ष्यमाणसिंहावलोकनन्यायेनानुषञ्जनीयं, यथा उत्पतन्वियतिपतन्त्रो अतिदूरतयासन्नपिप्रत्यक्षेणनोपलभ्यते, सामीप्यादित्यत्राप्यतिरनुवर्तनीयः, यथा लोचनस्थमञ्जनमतिसामीप्यान्न दृश्यते, इन्द्रियघातः=अन्धत्वबधिरत्वादिः ।

अर्थ—'अनुपलब्धि' यह शब्द आठवीं कारिका में है। उस शब्द से इस कारिका में के सब शब्दों का अन्वय लगाना इस रीति से पीछे का सम्बन्ध आगे या आगे का सम्बन्ध पीछे लगाने को सिंहावलोकन न्याय कहते हैं जैसे—सिंह जंगल में चलता हुआ, आगे पीछे इधर उधर शिकार के लिये देखा करता है, उसके स्वभावानुकूल उक्त दुरान्वय के समय इस न्याय की प्रवृत्ति हुआ करती है। (यथेति) जैसे आकाश में अति दूर उड़ता हुआ पक्षी होकर के भी प्रत्यक्ष देख नहीं पड़ता, (सामीप्यात) इस कारिका में जो 'सामीप्यात्' है उसमें भी उक्त 'अति' शब्द जोड़ना चाहिये (यथालोचनेति) जैसे कि—आंख में लगाया हुआ अंजन अति समीप होने से नहीं दिखाता (इन्द्रियेति) इन्द्रिय घात कहते हैं—उस २ क्रिया करने की शक्ति नष्ट होने को अर्थात् अन्धत्व बधिरत्व पंगुत्वादि को।

मनोऽनवस्थानाद्, यथाकामाद्युपहतमनाः स्फीतालोकमध्यवर्त्तिन मिन्द्रियसन्निकृष्टमर्थंनपश्यति, 'सौक्ष्म्याद्' यथेन्द्रियसन्निकृष्टंपरमाण्वादि प्रणिहितमनाअपि नपश्यति, 'व्यवधानाद्' यथाकुड्यादिव्यवहितंराजदारा दि नपश्यति, 'अभिभवाद्' यथाऽहनिसौरिभिर्भाभिरभिभूतं ग्रहनक्षत्रमंडलं

न पश्यति, 'समानाभिहाराद्' यथातोयदविमुक्तानुदबिन्दून् जलाशये न पश्यति, चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेनानुद्भवोऽपि संगृहीतः, तद् यथा—क्षीराद्यवस्थायांदध्याद्यनुद्भवान्नपश्यति।

अर्थ—(मनोऽनवेति) जिसका मन कामलोभादि दोषों से विक्षिप्त हो गया हो अथवा जिसके मन की मनन शक्ति नष्ट हो गई हो उसको प्रत्यक्ष प्रकाश में रखी हुई वस्तु भी देख नहीं पड़ती (सौक्ष्म्यादिति) परमाणु सरीखे सूक्ष्म पदार्थ इन्द्रिय सन्निकृष्ट होने पर भी अत्यन्त बारीकी से देखने पर भी नहीं दीखते, (व्यवधानात्) बीच में दीवार वगैरह की आड़ होने से भी वस्तु देख नहीं पड़ती। जैसे—परदे या महल में रहती हुई रानियों को कोई नहीं देखता (अभिभवादिति) अभिभव (पराभव) होने से भी वस्तु नहीं दिखाती। जैसे—सूर्य तेज से अभिभूत नक्षत्रादिमंडल दिन में नहीं दीखते, (समानाभिहारादिति) स्वसदृश वस्तु के सम्बन्ध होकर तद्रूप हुये पश्चात् वस्तु की प्रतीति नहीं होती। जैसे मेघसे गिरा हुआ जल विन्दु सरोवरादिकों में देख नहीं पड़ता ,(चकारो) इस कारिका के अन्त में 'च' यह जो शब्द है वह न कहे गये प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रतिरोधक अन्य हेतुओं का भी संग्रह करता है। जैसे—दुग्धावस्था में दही का उद्भव न होने से दही नहीं दीखता।

एतदुक्तंभवति—नप्रत्यक्षनिवृत्तिमात्राद् वस्त्वभावोभवति, अति प्रसंगात्, तथाहि-गृहाद्विनिर्गतोगृहजनमपश्यंस्तदभावंविनिश्चिनुयाद्, न च प्रधानपुरुषादीनामस्तिप्रत्यक्षयोग्यता, इति न तन्निवृत्तिमात्रात् तदभाव निश्चयो युक्तःप्रामाणिकानामिति ॥ ७ ॥

अर्थ—इस उक्त विवेचन का सारांश यह है कि—(नप्रत्यक्षेति) किसी वस्तु को प्रत्यक्ष न दीखने मात्र से ही वह वस्तु नहीं है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि (अतिप्रसंगात्) ऐसा कहने से अति प्रसंग हो जावेगा, वह इस तरह से (गृहादिति) घर में से बाहर (परदेशादिकों में) गया हुआ पुरुष-घर के लोगों को न देख पड़ने से उस उक्त पुरुष का अभाव हो गया ऐसा निश्चय कर लेंगे तो उनका निश्चय सत्य नहीं होगा, क्यों कि (अपितु)

प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय होने वाली वस्तु-उस (वस्तु) के नष्ट होने के पश्चात् ही उसके अभाव का निश्चय होता है, (न च) प्रधान पुरुषादि जो पदार्थ हैं उनमें प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय होने की योग्यता ही नहीं है, अतः उनके विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता, (इतिनेति) परन्तु इतने से वे हैं ही नहीं ऐसा उनके अभाव का निश्चय कर लेना निदान प्रामाणिकों को योग्य नहीं है। सारांश जो वस्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य होकर भी उसका प्रत्यक्ष ज्ञान न हो तो उसका अभाव कहना युक्त होगा, परन्तु किसी एक वस्तु का केवल प्रत्यक्ष ज्ञान न होने से वह वस्तु है ही नहीं यह कहना अयुक्त है।

कतमत्पुनरेतेषुकारणंप्रधानादीनामनुपलब्धौ, इत्यत आह—"सौक्ष्म्याद्" इति।

अर्थ—अब यदि कोई यह शंका करे कि उपरोक्त प्रत्यक्ष प्रतिबंधक, कुछ कारणों में से किन कारणों से प्रधानादिकों की उपलब्धि नहीं होती ? इसी का उत्तर आगे "सौक्ष्म्यात्" इस कारिका से देते हैं।

सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादितच्चकार्यं प्रकृति सरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रधान, पुरुष, इत्यादि पदार्थ सूक्ष्म होने के कारण उनकी उपलब्धि नहीं होती, उनका अभाव होनेसे वे दीखते नहीं, एसा नहीं कह सकते क्योंकि कारण और कार्य से उनकी उपलब्धि हुआ करती है। यह तत्वादि जो कार्य हैं वे प्रकृति के समान रूप के तथा विलक्षणरूप के भी हैं।

अथाभावादेवसप्तमरसवदेतेषामनुपलब्धिः कस्मान्नभवति, इत्यत आह—'नाभावाद्' कुतः, "कार्यतस्तदुपलब्धेः", तद् इति प्रधानं परामृशति, पुरुषोपलब्धौतु प्रमाणंवक्ष्यति "सङ्घातपरार्थत्वाद्" (का० १७) इति।

अर्थ—संसार में जैसे षड्रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त) हैं और सातवां रस वस्तुतः न होने से उसका अभाव माना जाता है, तद्वत् प्रधान पुरुषादिकों का ज्ञान भी अभाव के कारण नहीं होता, इस शंका के निवृत्यर्थ ग्रन्थकार कहते हैं कि (नाभावाद्) अर्थात् उनके अनुपलब्ध का

कारण अभाव नहीं है, किन्तु वे सूक्ष्म पदार्थ होने से प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय (उपलब्धि) नहीं होते, (कुतः) ऐसा कहां ? वही बतलाते हैं, (कार्यतः) कार्य्य लिङ्गक अनुमान द्वारा उनको प्रतीति (सिद्धि)होने से उनके अभाव की कल्पना नहीं कर सकते, कार्य्य प्रत्यय से कारणका अनुमान होता है जैसे नदी में बाढ़ देख, कहीं तो ऊपर की तरफ जल वर्षा हुई है। ऐसा अनुमान हालिक (हरजोता) भी कर लेते हैं, इस प्रकार के अनुमान को कार्य्य लिंगक अनुमान कहते हैं, इस कारिका में 'तद्' इस शब्द से प्रधान को परामर्श किया है, पुरुष का नहीं। क्योंकि पुरुष के उपलब्धि के विषय का प्रमाण आगे 'सङ्घात परार्थत्वाद्' १७ वीं कारिका में बतलाया गया है।

दृढ़तर प्रमाणावधारितेहि प्रत्यक्षमप्रवर्त्तमानमयोग्यत्वान्न प्रवर्त्तत इति कल्पते सप्तमस्तुरसो न प्रमाणेनावधारित इति न तत्र प्रत्यक्षस्यायोग्यता शक्याऽध्यवसातुमित्यभिप्रायः।

अर्थ—(दृढेति) अत्यन्त दृढ़ प्रमाण द्वारा जिसका निश्चय किया गया है, ऐसी किसी एक वस्तु के विषय में यदि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त न हो तो उस वस्तु में प्रत्यक्ष की योग्यता न होने से ही वह प्रवृत्त नहीं होता, ऐसी कल्पना कर सकते हैं और(सप्तमस्तु)सातवांरस कोई दृढ़तर प्रमाण द्वारा निश्चित होता नहीं, अतः उसमें प्रत्यक्ष की योग्यता है या नहीं, इसका निर्णय नहीं कर सके ऐसा इसका सारांश है।

किंपुनस्तत्कार्यं यतः प्रधानानुमानम्, इत्यतआह–"महदादितच्च-कार्य्यं" इति, एतच्चयथागमकं तथोपरिष्टादुपपादयिष्यते, तस्यचकार्य्यस्य विवेकज्ञानोपयोगिनी सारूप्यवैरूप्ये आह "प्रकृति सरूपं विरूपंच" इति, एतेतूपरिष्टाद् विभजनीये इति ॥ ८॥

अर्थ—(किमिति) जिससे प्रधान की अनुमान द्वारा सिद्धि होती है वह कार्य कौनसा है ? इस शंका का समाधान करते हैं (महदादि) महदहंकारादि उसके कार्य हैं, इसका विवेचन आगे १५ वीं कारिका में होगा। (तस्येति) अब विवेक ज्ञानके उपयोगी होने वाले जो कार्यों के साधर्म्य वैधर्म्य हैं उनको दर्शाते हैं,वे कार्य कुछ अंशों में प्रकृतिके सदृश तथा

कुछ अंशों में पृथक होते हैं, इसका विवेचन आगे १०-११ वीं कारिका में करेंगे।

कार्य्यात्कारण मात्रंगम्यते, सन्तिचात्रवादिनां विप्रतिपत्तय:,तथाहि-केचिदाहु:-असत: सञ्जायते' इति, 'एकस्यसतोविवर्त: कार्य्यजातं न वस्तु सद्' इत्यपरे। अन्येतु 'सतोऽसज्जायते'इति,'सत: सज्जायते' इतिवृद्धा:।

अर्थ—(कार्य्यात्) कार्य्य से केवल कारण का अनुमान होता है, (सन्तीति) परन्तु इस (कारण) के विषय में वादियों में बड़ा मतभेद है, (तथाऽहि) कोई कहते हैं कि-'असत् से सत् उत्पन्न होता है'यह बौद्धोंका मत है, इसका सारांश यह है कि असत=जिसको 'है' ऐसा नहीं कहते बनता, उस अनिर्वचनीय अभावसे 'सत'=जिसको 'है' ऐसा कह सकते हैं,ऐसी भाव रूप वस्तु उत्पन्न होती है, (एकस्येति) और दूसरे वेदान्तियों का कहना यह है कि यह समस्त नाम रूपात्मक कार्यमात्र एक सद्रूप आत्मा में कल्पित किया गया है, सत नहीं है, (अन्येतु) अन्य वैशेषिक मतानुयायी सत कारण से असत् कार्य वस्तुत: उत्पन्न होता है ऐसा मानते हैं, सारांश सत्=भाव रूप पदार्थ से (परिमाणुओं से) कारण व्यापार के पहिले अविद्यमान कार्य कारण व्यापारके पश्चात् उत्पन्न होता है, (सत:सत्) भाव रूप पदार्थ से कारण व्यापार के पूर्व ही कारणावस्था रूप से विद्यमान कार्य ही कारण व्यापार के पश्चात् उत्पन्न होता है , ऐसा सांख्याचार्य कपिल मुनी का सिद्ध सिद्धान्त है।

तत्र पूर्वस्मिन् कल्पत्रये प्रधानं न सिद्ध्यति, सुखदु:ख मोहभेदवत्स्वरूप परिणाम शब्दाद्यात्मकत्वं हि जगत्कारणस्य प्रधानत्वं=सत्व रजस्तम: स्वभावत्वम्।

(तत्रेति) उक्त चार पक्षों में से प्रथम पक्ष स्वीकार करने से प्रधान की सिद्ध नहीं होती, क्योंकि—(सुखेति) संसार का कारण, जिसका स्वरूप सुख, दु:ख, मोह इन तीनों भेदों से संयुक्त है ऐसे परिणाम पाये हुये शब्दादि विषय रूप हैं, तथा 'सत्व रजस्तम:' स्वभाव यही प्रधान हैं।

यदि पुनरसत: सज्जायते असन्निरुपाख्यं कारणं कथंस्यात्, सद सतोस्तादात्म्यानुपपत्ते:।

यदि असत् से सत् की उत्पत्ति है यह बौद्धों का मत मान लिया जाय तो 'कारण' असत् व इसीसे अनिर्वचनीय है ऐसा होगा परन्तु अनिर्वचनीय कारण तथा सुखादि रूप से प्रतीत होने वाले पदार्थों का मेल कैसे होगा ? क्योंकि कारण असत् और सुखादि सत् रूप से प्रतीयमान शब्दादिकों का तादात्म्य होना अशक्य है, अतः स्वीकार नहीं कर सकते।

अथैकस्य सतोविवर्तः शब्दादि प्रपञ्चः, तथापि सतः सज्जायत इति न स्याद्,

अर्थ—अस्तु-यदि वेदान्तियों का पक्ष मानलिया जाय, कि-एक सद्रूप परमात्मा में सब शब्दादि प्रपंच की कल्पना की गई है, परन्तु सत् से असत् उत्पन्न होता है ऐसा इनको मान्य नहीं है क्योंकि विवर्तवाद में समस्त कार्य अध्यास रूप होने से असद्रूप कार्य को सद्रूप कारण से यद्यपि तादात्म्य-भासित होता है, परन्तु यह वस्तुतः असद्रूप ही रहता है। और सत व असत का तादात्म्य अशक्य होने से पूर्ववत इस पक्ष में भी प्रधान सिद्ध का अनुमान नहीं कर सकते।

न चास्याद्वयस्य प्रपञ्चात्मकत्वम्, अपित्वप्रपञ्चस्य प्रपञ्चात्मक तया प्रतीतिर्भ्रमएव।

अर्थ—तथा एक व अद्वतीय तत्व अनेक रूप प्रपञ्च से तादात्म्य भी नहीं हो सकता, तब प्रपञ्चरूप रहित परमात्मा की प्रपञ्चरूप से प्रतीति होना यह भ्रम ही है, उसमें तत्व ज्ञान का लेश भी नहीं है।

येषामपि कणभक्षाक्षचरणादीनां सत एव कारणापसतो जन्म तेषामपि सदसतोरेकत्वानुपपत्तेर्न कार्यात्मकं कारणम्, इति न तन्मते प्रधान सिद्धिः, अतः प्रधान सिद्ध्यर्थ प्रथमं तावत् सत्कार्यप्रतिजानीते-"असदकरणात्" इति

(येषामिति) तार्किक कणाद, गौतमादिकों के मत से भी, सत कारण से असत कार्य्य मान्य है। परन्तु सत व असत का ऐक्य अशक्य होने के कारण कार्य्य रूप कारण है, ऐसा सिद्ध नहीं होता और हमको तो कार्य्य कारण

गुणात्मक है यह सिद्ध करना है, वैशेषिक मत से भी प्रधान सिद्धि नहीं होती (अतः) इस कारण प्रधान सिद्धि के लिये प्रथम कार्य्य सत है, ऐसी "असद-करणाद्" द्वारा प्रतिज्ञा करते हैं।

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्व सम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्य करणात् कारणभावाच्च सत्कार्य्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ—असत्पदार्थ के अशक्य होने से, उपादान से कार्य का संबंध रहता है, ऐसा नियम होने से, सबसे सब की उत्पत्ति होती है, ऐसा अनुभव प्राप्त न होने से, जिसमें जो शक्ति रहती है उसी शक्ति से युक्त कार्योत्पत्ति होती हैं, ऐसा सिद्धान्त होने से कार्य यह कारण व्यापार के पहिले ही सद्रूप ही रहता है।

सत्कार्यं–'कारणव्यापारात्प्रागपि' इतिशेषः, तथा च न सिद्ध साधनं नैयायिकतनयैरुद्भावनीयम्।

अर्थ—'सत्कार्यं' यह कारिकान्त में कहा है, परन्तु उसमें "कारण व्यापारात्प्रागपि" इतना जोड़ देना, अर्थात् कार्य कारण व्यापार के पूर्व भी सत है—जोड़ देने से, 'कारण व्यापार के पश्चात् कार्य सत है' ऐसा कहने वाले नैयायिकों को सिद्ध साधन दोष देने का अवसर न मिलेगा, जो बात अन्य प्रमाणों से सिद्ध की गई हो उसी की पुनः सिद्धि यदि कोई करे तो उसको यह उक्त दोष देने में आता है, जैसे 'कार्य सत है' यह बात दोनों पक्ष में समान है, फिर एक बालकी सिद्धताके लिये दो शास्त्रों के प्रवृत्त होनेकी क्या आवश्यकताहै ? यह सब कोई कहसकताहै और यह ठीकभीहै, परन्तु उनका मत 'कार्य कारण व्यापारान्तर सत है' और 'हमारे यहां 'प्रागपिसत्' सिद्ध किया जाता है, अतः उक्त दोष प्राप्त नहीं हो सकता।

यद्यपि बीजमृतपिण्डादिप्रध्वंसानन्तरमंकुरघटाद्युत्पत्तिरूप लभ्यते तथापि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम् अपितुभावस्यैव बीजाद्यवयवस्य, अभावात्तु भावोत्पत्तौतस्य सर्वत्र सुलभत्वात्सर्वत्र सर्वकार्योत्पाद प्रसंग, इत्यादि न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायामभिहितमस्माभिः।

अर्थ—(यद्यपीति) यद्यपि बीज, मट्टीका गोला इत्यादिकों के आकार

का नाश होने पर ही अंकुर, घट इत्यादि की उत्पत्ति होती है, तथापि उनका नाश होना यह अंकुरादि का कारण नहीं है, (अपितु) किन्तु भाव रूप उन बीजादिकों के अवयव ये ही कारण हैं, (अभावस्तु) कारण अभाव से कार्य की उत्पत्ति है, यदि ऐसा कहेंगे तो अभाव यह सर्वत्र सुलभ होने से सर्वत्र सब कार्यों की उत्पत्ति होने का प्रसंग आवेगा, ऐसा हमने अपनी न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका में स्पष्ट कर दिया है ।

प्रपञ्च प्रत्ययश्चासति वाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम् ।

अर्थ—जैसे शुक्ति में रजत का भास होने से 'इदंनरजतम्' यह ज्ञान होते ही उसका नाश हो जाता है, यह सबके अनुभव की बात है, वैसे ही अनेक वस्तु सम्पन्न प्रपंच प्रत्यय का बाधक कोई निमित्त देख नहीं पड़ता, तथा ऐसा बाधक निमित्त हुये बिना प्रपंच प्रत्यय मिथ्या है, यह नहीं कह सकते ।

इतिकणभक्षाक्षचरणमतमवशिष्यते, तत्रेदं प्रतिज्ञातं 'सत्कार्यम्' इति, तत्रहेतुमाह 'असदकारणात्' इति, असच्चेत् कारण व्यापारात् पूर्वं कार्यंनास्य सत्वं कर्तुं केनापिशक्यं, नहि नीलं शिल्पि सहस्रेणापि पीत कर्तुं शक्यते ।

अर्थ—इस तरह पूर्वोक्त दो पक्षों का निराकरण किया, अब (इतीति) शेष रहा नैयायिकों का मत, उनके परास्तार्थ ही "सत्कार्य्यं" ऐसी प्रतिज्ञा यहां पर की है, उसके विषय में कहते हैं "असदकरणाद्" यह कई कारणों में से आद्य कारण हैं, (असच्चेत) अर्थात त्रिविध कारणों का (समवायी असमवायी, व निमित्ति ये तीन कारण अक्ष चरणादिकों को मान्य हैं) व्यापार होने के पहले यदि कार्य असत होता तो उसको सत कोई भी नहीं बना सकता, (नहीति) जैसे नीला रंग हजारों कुशल कारीगरों से पीला नहीं हो सकता ।

सदसत्वे घटस्य धर्मावितिचेत्, तथाप्यसति धर्मिणि न तस्य धर्म इति सत्वं तदवस्थमेव तथा च नाऽसत्वम् । असंवद्धेनाऽतदात्मना चाऽस त्वेन कथमसन्घटः । तस्मात्कारणव्यापारादूर्ध्वमिव ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति,

अर्थ—नैयायिकों के मत में कार्य कारण व्यापार से पूर्व असत् रहता है, जैसे कि मिट्टी का कच्चा घड़ा आवे में (भट्टी में) न डालने के पहिले काला रंग का रहता है और वही घड़ा आवे में म्कि जाने पर लाल हो जाता है, इसी कारण विशेष समय में विशेष धर्म रहता है यह सिद्ध है, अतः कार्य उत्पित्ति के पूर्व असत रहता है, यह कहने में कोई हानि नहीं है, परन्तु यह युक्ति ठीक नहीं है, कारण, (सदसत्वे) सत व असत ये घट के धर्म हैं ऐसा यद्यपि माना, परन्तु धर्मी पदार्थ का सत्व न होने से उसका कोई भी धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि 'आधार के बिना आधेय नहीं रहता' ऐसा नियम होने पर भी बिना आधार के आधेय यह मानना नियम विरुद्ध बात है, घट को 'सत या असत' ऐसा कहने से घट रूपी कार्य का उत्पति पहिले भी सत् सत रहता है यह सिद्ध हुआ, परन्तु इसीसे वह असत है–ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि (असम्बद्धेति) जिसका धर्मी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं तथा जो स्वयं धर्मी रूप भी नहीं है, ऐसे असत्व योग से घटादि पदार्थ असत् कैसे होंगे (तस्मादिति) इसी कारण व्यापार के पश्चात् कार्य जैसे सत् हैं वैसे ही उत्पत्ति के पहिले भी सत् रहता है।

कारणाच्चास्यसतोभिव्यक्तिरेवावशिष्यते, सतश्चाभिव्यक्तिरुपपन्ना, यथा पीडनेन तिलेषुतैलस्य, अवघातेन धान्येषु तण्डुलानां, दोहनेन सौरभेर्याषुपयसः, असतः करणेतु न निदर्शनं किञ्चिदस्ति, नखल्वभिव्यज्यमानं चोत्पद्यमानं वा क्वचिदसत् दृष्टम्।

अर्थ—(कारणास्येति) पहले सद्रूप से स्थित सत् का कारण व्यापार द्वारा अभियुक्त होना मात्र शेष रहता है, (सतश्चेति) और जो सद्रूप पदार्थ हैं उन्हीं की अभिव्यक्ति होना युक्ति संज्ञक है। जैसे—(यथेति) तिलों में तेल पहिले ही रहता है परन्तु कोल्हू में पिरवाये बिना तेल अभिव्यक्त नहीं होता, धानों में चावल पहिले ही रहते हैं परन्तु उखल में कूटे बिना चावल व्यक्त नहीं होते। तद्वत् गो घृत, पायसादि। तात्पर्य यह है कि प्राक् सद्रूपस्थ कार्य ही कारण व्यापार द्वारा अभिव्यक्त होता है। परन्तु असत पदार्थ कारण व्यापार

द्वारा व्यक्त होता है, यह सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त ही कहीं नहीं मिलता संसार में एक भी ऐसा असत् पदार्थ नहीं है जो कि कारण व्यापार के पश्चात् अभिव्यक्त (उत्पन्न) होता हो जिसे दिखाया जाय।

इतश्चकारणव्यापारात्प्राक्सदेवकार्य्यं "उपादान ग्रहणाद्" उपादानानि=कारणानि तेषांग्रहणंकार्येण सम्बन्धः,उपादानैः कार्यस्यसम्बन्धादितियावत्। एतदुक्तं भवति-कार्य्येणसम्बद्धं कारणं कार्यस्यजनकं, सम्बन्धश्च कार्यस्याऽसतोन संभवति तस्मात्सदिति।

अर्थ—(इतश्चेति) कारण व्यापार के पहिले कार्य सत रहता है यह सिद्धान्त 'असदकराद्' इस हेतु से यहां तक सिद्ध किया, अब उसी की सिद्धि 'उपादानग्रहणाद्' इस दूसरे हेतु द्वारा बतलाते हैं, उपादान यानी कारण उस का ग्रहण यानी कार्य से नित्य सम्बन्ध, यह समासार्थ है, (उपादानैरिति) उपादान कारण से कार्य का नित्य सम्बन्ध होने के कारण कार्य उत्पत्ति के पहिले भी सत है यह बात सिद्ध होती है, (एतदुक्तमिति) उक्त विवेचन का मथितार्थ यह है कि कार्य से संबन्धित कारण ही कार्य को उत्पन्न कर सकता है। (सम्बन्धश्चेति) परन्तु कार्य ही जब असत है तो उसका कारण संबन्ध कैसे होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता,(तस्मात) इस कारण से संबद्ध कार्य कारण व्यापार के पहिले भी सत् रहता है,ऐसा ही कहना चाहिये।

स्यादेतद्—असंबद्धमेवकारणैः कस्मात्कार्यं न जन्यते तथा चासदेवोत्पत्स्यतेऽतआह—"सर्वसम्भवाभावाद्" इति, असंबद्धस्यजन्यत्वे असंबद्धत्वाविशेषेणसर्वंकार्यजातंसर्वस्माद्भवेत्, नचैतदस्ति, तस्मान्नासंबद्धमसंबद्धेनजन्यतेऽपितु संबद्धंसंबद्धेनजन्यतइति।

अर्थ—(असंबद्धेति) उक्त विषय में कोई ऐसी भी शंका कर सकते हैं कि कारण से सम्बन्ध न रखकर भी कार्य उत्पन्न होता है। ऐसा ही क्यों नहीं मानते, (तथेति) ऐसा मानने से असत ही से कार्य उत्पन्न होता है यहसिद्ध होगा, इसी शंका के निवारणार्थ "सर्वसंभवाभावाद्" ऐसा हेतु कारिका में दिया गया है,(असंबद्धस्येति) कारण से सम्बन्ध न होते हुये कार्य उत्पन्न होता है। ऐसा मान लेने से असंबद्धत्व धर्म सब कार्यों का सब कारणों से

एक सदृश होने से अनिश्चित कार्य अनिश्चित कारण से होने लगेगा, अर्थात् जब कार्य कारण का सम्बन्ध ही न रहेगा, तो मट्टी से कपड़ा और जल से घड़ा इत्यादि कार्य होने लगेंगे, और (न चैतदस्ति) ऐसा देखने में तो दृष्टि-गोचर नहीं होता। (तस्मात्)इसलिये असंबद्ध कार्य असंबद्ध कारण से उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं कह सकते, वल्कि कार्य से सम्बद्ध रखने वाले कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है, यह सिद्धान्त है।

यथाहुः सांख्यवृद्धाः-असत्वेनास्तिसम्बन्धः कारणैः सत्वसंगिभिः, असंबद्धस्यचोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः", इति।

अर्थ—उक्त विषय में सांख्य शास्त्रप्रवर्तकवृद्धि मुनि जी ने ऐसा कहा है कि यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् है ऐसा मान लिया जावे, तो सत्व का आश्रय करके रहने वाले कारण से सम्बन्ध नहीं हो सकता, तथा कारण से असंबद्ध कार्यकी उत्पत्ति मानली जाय, तो किसी कार्य की किसी भी कारण से उत्पत्ति होने लगेगी यह अव्यवस्था प्राप्त होती है।

स्यादेतद्—असंबद्धमपिसत् तदेवकरोति यत्र यत्कारणंशक्तं, शक्ति श्चकारणस्यकार्यदर्शनादवगम्यते, तेन नाव्यवस्थेत्यतआह—"शक्तस्य शक्यकरणाद्" इति।

अर्थ—(असंबद्धेति) इस विषय में कोई ऐसा कहेंगे कि, जो कारण जिस कार्य करने में समर्थ रहता है, वह कारण अपने से असंबद्ध (संबन्ध न रखने वाले) कार्य को उत्पन्न कर सकता, (शक्तिश्च) तथा किस कारण में कौन से कार्य करने की शक्ति है यह कार्यावलोकन से समझा जाता है, (तेनेति) और इससे उक्त अव्यवस्था भी प्राप्त नहीं होती, परन्तु यह कहना भी यथार्थ नहीं है, यह बतलाने के लिये ही "शक्तस्य शक्यकरणाद्" हेतु दिया है।

साशक्तिःशक्तकारणाश्रयासर्वत्रवास्यात्, शक्यएव वा सर्वत्रचेत्, तदवस्थैवाऽव्यवस्था, शक्येचेद्कथमसति शक्ये तत्रइति वक्तव्यं।

अर्थ—कार्यानुकूल जो कारणान्तर्गत शक्ति है वह सर्वत्र रहती है, या केवल शक्य कार्य विषय में ? (सर्वत्रचेत) यदि कहो कि सर्वत्र रहती है, तो इस पर हमारा कहना है कि कार्यानुकूल कारणशक्ति का सर्वत्र रहना

यही अव्यवस्था है, (शक्येचेद्) शक्ति का विषय जो कार्य तदन्तरगत वह कारणगत कार्यानुकूल शक्ति रहती है। ऐसा यदि कहा जाय, तो आपके सिद्धान्त में कारण व्यापार के प्राक् कार्य असत् है, तो फिर असत् कार्यान्तर्गत वह कैसे रहेगी यह बतलाना चाहिये ?

शक्तिभेदएव स तादृशोयतः किञ्चिदेव कार्यंजनयेन्नसर्वमितिचेद्, हन्तभोःसशक्तिविशेषः कार्यसम्बद्धोवाऽसंबद्धोवा, सम्बद्धत्वेनाऽसतासंवन्ध इति सत्कार्यम्, असंबद्धत्वेसैवाऽव्यवस्था, इति सुष्ठूक्तं-"शक्तस्यशक्यकरणाद्" इति।

अर्थ—(शक्तिभेदेति) शक्ति का विशेष प्रकार ही ऐसा है कि वह कोई एक कार्य उत्पन्न करता है, सबकी उत्पत्ति नहीं करता, ऐसा यदि आपका कहना हो तो ठीक है, परन्तु हे महाराज ? आपकी वह शक्ति विशेष कार्य से सम्बद्ध है, वा नहीं केवल इतना ही बतला दीजिये। (संबद्धत्वे) यदि कारण शक्ति का विशेष कार्य से सम्बद्ध है, ऐसा कहोगे तो सद्रूप कारण का असद्रूप कार्य से सम्बन्ध न होने से आपको सत् कार्य मानना पड़ेगा। (असंबद्धत्वे) यदि कार्य से कारण शक्तिविशेष का सम्बध नहीं है, ऐसा कहोगे तो उपरोक्त अव्यवस्था प्राप्त होती है। (इतिसुष्ठूक्तमिति) इससे "शक्तस्यशक्यकारणाद्" ऐसा जो कहा सो योग्य है।

इतश्चसत्कार्यमित्यतआह—"कारणभावाच्च" =कार्यस्यकारणात्मकत्वाद्, नहिकारणाद्भिन्नंकार्य्यं, कारणंच सद् इतिकथंतदभिन्नंकार्य्यमसद्भवेत्।

अर्थ—कार्यकी उत्पत्तिके पूर्व सत् रहता है,इस विषयमें 'कारणभावाद्' यह भी एक हेतु है। 'कारणभावात्' का अर्थ यह है कि-कार्य यह कारणरूप होने से वह कारण से प्रथक है ही नहीं। क्योंकि (कारणं च) कारण सत् है यह तो आप (तर्किकों) को भी मान्य है। तो फिर कारणरूप कार्य कैसे असत् होगा ?

कार्यस्यकारणाभेदसाधनानिच प्रमाणानि-न पटस्तन्तुभ्योभिद्यते तद्धर्मत्वाद्-इह यद्यतोभिद्यते तत्तस्यधर्मो न भवति यथा गौरश्वस्य-धर्मश्च पटस्तन्तूनां-तस्मान्नार्थान्तरत्वमिति।

अर्थ—अब कार्य कारण के अभेद साधक प्रमाण बतलाते हैं (नपटेति) वस्त्र यह कार्य व तन्तु (सूत) यह कारण है परन्तु वस्त्र तन्तु से भिन्न नहीं है क्योंकि वह उसका धर्म है। धर्म अर्थात् एक प्रकार की अवस्था, इससे वस्त्र व तन्तु भिन्न पदार्थ नहीं है। "वह उसकाधर्म है" ऐसा जो यहां हेतु दिया है उससे जो जिसका धर्म रहता है वह उससे भिन्न नहीं रहता' ऐसी अन्वयव्याप्ति सूचित होने से अब टीकाकार केवल व्यतिरेक व्याप्ति दर्शाते हैं। (इहेति) जो जिससे भिन्न होता है, वह उसका धर्म भी नहीं होता। (यथेति)जैसे गौ यह घोड़े का धर्म नहीं अतः वे भिन्न हैं, यहां पट यह तन्तु का धर्म होने से भिन्न पदार्थ नहीं है।

उपादानोपादेयभावाच्चनार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः—ययोरर्थान्तरत्वंन तयोरुपादानोपादेयभावो यथा घटपटयोः—उपादानोपादेयभावश्चतन्तुपटयोः तस्मान्नार्थान्तरत्वमिति।

अर्थ—कार्य, कारण का अभेद सिद्ध करने वाला 'उपादान उपादेय भाव' यह भी एक हेतु है, कार्य की उत्पत्ति के लिये जिसका विशेषरूप से ग्रहण किया जाता है वह उपादान है, तथा वही कार्योत्पत्ति के पूर्वावस्था में कार्य का आश्रय (स्थान) होने से कारण भी है,उक्त उपादान कारण के आश्रय से सूक्ष्मावस्था में रहने वाला जो कार्य वही उपादेय है, इस तरह कार्य कारण का उपादान उपादेय भाव होने से उनका अभेद मानना पड़ता है। (ययोः) कारण जो पदार्थ भिन्न २ रहते हैं उनमें उपादान उपादेय भाव नहीं रहता, जैसे—घट व पट ये भिन्न २ होने से उक्त भाव इनमें नहीं है, और तन्तु व पट इनका उपादान उपादेय भाव प्रसिद्ध है अतः ये भिन्न नहीं हैं।

इतश्चनार्थान्तरत्वंतन्तुपटयोः—संयोगाऽप्राप्त्यभावाद्—अर्थान्तरत्वे हिसंयोगोदृष्टोयथाकुण्डबदरयोः—अप्राप्तिर्वायथा हिमवद्विन्ध्ययोः—न चे-हसंयोगाप्राप्तिः, तस्मान्नार्थान्तरत्वमिति।

अर्थ—इस विषय में संयोग व अव्याप्ति इनका अभाव—यह और एक हेतु है। (संयोगेति) जो पदार्थ भिन्न २ रहते हैं उनका संयोग हुआ करता है जैसे पात्र व बदरीफल (बेर) ये दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं, अतः उनका संयोग हो सकता है। वैसे ही जो दो भिन्न २ पदार्थ होते हैं उनकी अप्राप्ति

हुआ करती है। जैसे—हिमालय पर्वत व विन्ध्याचल ये दोनों भिन्न २ पदार्थ होने से इनकी नित्य अप्राप्ति (विभाग) है, तन्तु व पट इनका संयोग भी नहीं होता न विभाग ही होता है, अतः वे भिन्न २ पदार्थ नहीं हैं तन्तुओं का परस्पर संयोग या विभाग होना यह तन्तु तथा पट इनका संयोग विभाग नहीं है, यह बात अच्छी तरह जान लेना जिसमें शंका न होगी।

इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते-गुरूत्वान्तरकार्याग्रहणाद्-इहयद् यस्माद् भिन्नं तस्माद् तस्यगुरुत्वान्तर कार्यं गृह्यते यथैकपलिकस्य स्वस्ति कस्य यो गुरुत्वकार्योऽवनति विशेषस्तस्माद् द्विपलिकस्य स्वस्तिकस्य गुरुत्व कार्यऽवनति भेदोऽधिकः-न च तथा तन्तुगुरुत्वकार्य्यात् पटगुरुत्वकार्थान्त रंदृश्यते तस्माद् भिन्नस्तन्तुभ्यः पटइति।

अर्थ—पट व तन्तु इनमें प्रथकर गुरुत्व कार्य नहीं मिलता, इस बातसे भी वे परस्पर भिन्न हैं ऐसा कहने में नहीं आता, गुरुत्व यानी वजन, (इहेति) जो पदार्थ जिससे भिन्न रहता है, उसका गुरुत्व कार्य प्रथक प्रतीति होता है, क्योंकि भिन्न २ पदार्थों का भिन्न २ गुरुत्व रहता है, जैसे तराजू की दांडी के झुकने से उसका ज्ञान होता है, यद्यपि समान वजन के दो पदार्थों का गुरुत्व कार्य भिन्न नहीं देख पड़ता यह सत्य है, परन्तु उनमें भिन्न २ गुरुत्व रहने की योग्यता होती है, यह भी जान लेना आवश्यक ही है, अस्तु(यथेति) अब यही उदाहरण द्वारा घटाते हैं जैसे –चार तोले सुवर्ण भूषण का तराजू की डंडी अव नत होना यह गुरुत्व कार्य जिस तरह रहता है, उससे आठ तोले सुवर्ण का अधिक होता है, (न च) परन्तु वैसा तन्तु के गुरुत्व कार्य से पट का गुरुत्व कार्य अधिक नहीं रहता, (तस्मात्) इससे पट तन्तु से भिन्न नहीं है, वल्कि तन्तु रूप ही है।

तान्येतान्यभेदसाधनान्यवीतानि, एवमभेदे सिद्धे तन्तवएव तन तेन संस्थान भेदेन परिणताः पटो न तन्तुभ्योऽर्थान्तरं पटः।

अर्थ—हम पीछे पांचवीं कारिका में अनुमान प्रकरण में कह चुके थे कि अवीत (व्यतिरेकी) अनुमान के उदाहरण ९ वीं कारिका में दर्शाये जावेंगे सो वे ही कार्य कारण का अभेद सिद्ध करने वाले व्यतिरेक व्याप्ति युक्त प्रमाण

हैं, (एवम्) इस तरह अभेद सिद्ध होने पर उस २ आकार से परिणत हुये तन्तु यही पट है, वह पट तन्तु से प्रथक पदार्थ है ही नहीं यह सिद्ध होता है।

स्वात्मनि क्रियानुरोध वुद्धि व्यपदेशार्थ क्रिया व्यवस्था भेदाश्चनैकान्तिकं भेदंसाधयितुमर्हन्ति, एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाऽविर्भाव तिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधाद्।

अर्थ—शंका अब कार्य कारण का अभेद मानने से अपने ही से अपनी उत्पत्ति व अपने में अपना नाश होता है, यही सिद्ध होता है, वैसे ही (स्वात्मनि) अभिन्न वस्तु में अर्थात् कारण से कार्य का नाम भिन्न, भिन्न प्रयोजन की उत्पत्ति, भिन्न कार्य का नियम इत्यादि भेद प्रत्यक्ष देखकर कार्य व कारण का अभेद है, यह सिद्ध नहीं होता, इस बात का विस्तार पूर्वक; खुलासा ऐसा है कि कार्य कारण को अभेद होता तो कारणसे कार्यकी उत्पत्ति, व उसीमें उसका नाश यह जो प्रत्यय है वह कभी न होता, क्योंकि एकही पदार्थसे एक ही की उत्पत्ति होना व इसी में उसका नाश होना यह अनुभव विरुद्ध बात है, वैसे ही कारण से कार्य का नाम प्रथक रहता है, जैसे तन्तु यह कारण व पट यह कार्य है, तन्तुओं का उपयोग वहुत से इकट्ठे होकर रस्सो बनाना, या कोई पदार्थ बांधना, इतना ही होता है, परन्तु पट (वस्त्र) का उपयोग पहरना, ओढ़ना, बिछाना इत्यादि अनेक काम होते हैं, यानी सब कार्य कारण के व्यबहार में ऐसा फरक है, तो उनका अभेद है यह कैसे सिद्ध होगा ? परन्तु इस शंका में कुछ भी अर्थ नहीं है, क्योंकि उक्त भेद कारण कार्य का तात्विक भेद करने में समर्थ नहीं है, (एकस्मिन्नपि) क्योंकि तत्वतः उनका अभेद होने पर भी तत्तत बिशेष का आविर्भाव (प्रगट) ब लय इनके योग से उक्त भेद हो सकते हैं। अर्थात ये भेद व्यवहारिक होकर वे कार्य कारणके विशेष अवस्था को अनुलक्षित कर होने से उनका कार्य कारण के तात्विक अभेद में विरोध नहीं आता।

यथाहि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति निस्सरन्ति चाविर्भवन्ति न तु कूर्मतस्तदङ्गान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्तेवा, एव मेकस्या मृदः सुवर्णस्य वा घट मुकुटादयो विशेषा निस्सरन्त आविर्भवन्त

उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते निविशमानाश्च तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते, न पुनरसता मुत्पादः सतांवा विरोधः,—यथाह भगवान कृष्ण द्वैपायनः–

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इति ।

उपरोक्त तात्विक विरोध कैसे नहीं आता उसे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं (यथेति) जैसे कछुवे के अंग भीतर खींच लेने से गुप्त हो जाते हैं व बाहर निकलने से प्रगट हो जाते हैं, परन्तु वस्तुतः वे कर चरणादि न तो कूर्म से उत्पन होते हैं, न कूर्म में लीन ही होते हैं, वैसे ही–(एवमेकस्यामृदः) एक मिट्टी या सुवर्ण से घट मुकटादि प्रगट होने पर वे उत्पन्न हुये ऐसा कहते हैं तथा फूटने या गलाने से उनका नाश हो गया ऐसा कहते हैं, (नेति) परन्तु वस्तुतः असत् रहने वाले उन (घटमुकुटादिकों) की उत्पत्ति होती है, या सद्रूप ऐसे घटादिकों का नाश होता है, यह बात कुछ नहीं है, इस विषय में भगवान् कृष्णद्वैपायन ने अपने भगवद्गीता ग्रन्थ में कहा है कि—ख (आकाश में) पुष्प, मनुष्य शृङ्ग, इत्यादि असत्—पदार्थों का भाव कदापि नहीं होता व आत्मासदृशसत् पदार्थ का किसी काल में नाश नहीं होता, अस्तु ।

यथा कूर्मः स्वावयवेभ्यः संकोच विकाशिभ्यो न भिन्न एवं घट मुकुटादयोपि मृत्सुवर्णादिभ्यो नभिन्नाः, एवंच—'इह तन्तुषु पट इति व्यपदेशोपि यथा इहवने तिलका' इत्युपपन्नः,

अर्थ—(यथेति) जैसे कछुवा अपने—संकोच विकाश पाने वाले अवयवों से भिन्न नहीं रहता, वैसे ही घट मुकटादि पदार्थ भी मृत्सुवर्णादि पदार्थ से प्रथक नहीं होते, (एवंच) और ऐसा होने से—तन्तुवों में 'पट' ऐसा जो व्यवहार होता है, वह झाडों के समूह का 'यह बन' इसके सदृश ही है, अर्थात्—वस्तुतः उनमें भेद नहीं है ।

न चाऽर्थ क्रियाभेदोपि भेदमापादयति, एकस्यापि नानार्थ क्रिया-दर्शनाद्, यथैकएव वह्निर्दाहकः पाचकः प्रकाशकश्चेति, नाप्यर्थ क्रिया व्य-वस्था वस्तुभेदहेतुः, तेषामेव समस्त व्यस्तानामर्थ क्रिया व्यवस्था दर्शनाद् यथा प्रत्येकं विष्टयो वर्त्मदर्शन लक्षणामर्थ क्रियां कुर्वन्ति न तु शिबिका

वहनं, मिलितास्तु शिविकां वहन्ति,एवं तन्तवः प्रत्येकं प्रावरणमकुर्वाणा अपिमिलता आविर्भूतपटभावाः प्रावरिष्यन्ति।

अर्थ—(नेति)प्रयोजनोत्पादन—कार्य कारण का अभेद नष्ट कर सकेगा यह भी आशा करना व्यर्थ है (एकस्यापि) क्योंकि एक पदार्थ अनेक क्रिया करता रहता है, यह रोज का अनुभव है जैसे एक ही अग्नि दाहक, पाचक, प्रकाशक इत्यादि प्रकार से प्रत्यय में आता है,(नाप्यर्थ क्रियेति)अब अर्थ क्रिया की व्यवस्थापदार्थ का भेद करने में कारण (समर्थ) होगा, ऐसा कहें तो वह भी ठीक नहीं घटता, (तेषामेवेति) क्योंकि पदार्थ का समूह या उनमें से भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा भिन्न २ क्रियाओं का होना देखने में आता है, (यथा प्रत्येकमिति) जैसे पालकी को वहन करने वालों में प्रत्येक अपना मार्ग देखना यह अर्थ क्रिया करते हैं, परन्तु पालकी को अकेला उठा कर नहीं ले जा सकता, (मिलितास्तु) किन्तु सबको मिलकर ही वह क्रिया करना पड़ता है, (एवमिति) उसी तरह प्रत्येक तन्तु पहिरने या ओढ़ने के काम में नहीं आता परन्तु वे सब मिलकर पट भाव को प्राप्त हो, ओढ़ने या पहिरने के लायक होता है।

स्यादेतद्, आविर्भावः पटस्य कारण व्यापारात्प्राक् सन्नसन् वा, असंश्चेत्, प्राप्तं तर्ह्यसदुत्पादनम्, अथसन्, कृतं तर्हि कारण व्यापारेण, नहि सतिकार्ये कारणव्यापार प्रयोजनं पश्यामः,आविर्भावे चाविर्भावान्तर कल्पनेऽनवस्था प्रसंगः, तस्मादाविर्भूत पटभावास्तन्तवः क्रियन्तइतिरिक्तं वचः।

परन्तु उक्त विषय में कोई ऐसी शंका करे कि-(आविर्भावः) पट का आविर्भाव कारण व्यापार के पहिले सत् रहता है या असत् ? यदि असत् है ऐसा कहोगे तो—(प्राप्तं) असत्—वस्तु की उत्पत्ति आपके मुंह से ही सिद्ध हो गई, (अथसन्) और वह सत् रहता है, ऐसा कहोगे तो (कृतमिति) कारण व्यापार के पहिले ही यदि सत है। तो कारण व्यापार का क्या काम ? (नहीति) कार्य सिद्ध होने पर कारण व्यापार का हमको कुछ भी प्रयोजन नहीं देख पड़ता (आविर्भावे) एक आविर्भाव में दूसरे अविर्भाव की कल्पना

कर लेवें तो दूसरे के लिये तीसरे के, तीसरे के लिये चौथे की इत्यादि कल्पना परंपरा का प्रसंग आवेगा अर्थात् यही अनवस्था दोष है, (तस्मादिति) इससे तात्पर्य यह है कि जिनका पट भाव आविर्भूत हैं ऐसे तन्तु ही पट रूप से उत्पन्न किये जाते हैं यह कहना प्रमाण शून्य है।

अथाऽसदुत्पद्यत इत्यत्रापि मते केयमसदुत्पत्तिः सती, असती वा, सती चेत्, कृतं तर्हि कारणैः, असतीचेत्, तस्या अप्युत्पत्यन्तर मित्य नवस्था, अथोत्पत्तिः पटान्नार्थान्तरम्—अपितु पट एवासौ, तथापि या वदुक्तं भवति पट इति तावदुक्तं भवति उत्पद्यते—इति, ततश्च पट इत्युक्ते उत्पद्यते-इति नवाच्यं, पौनरुक्त्याद, विनश्यति—इत्यपिनवाच्यम्, उत्पत्ति विनाशयोर्युगपदेकत्र विरोधात्।

(अथेति) तद्वत् असत् उत्पत्ति मत में भी दोष है, वह इस तरह से कि असत् उत्पत्ति सत है या असत् ? यदि सत है, तो कारण की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि भाव पदार्थको स्वोत्पत्तिके लिये कारणकी आवश्यकता ही नहीं रहती, (असती) यदि असत् है ऐसा कहें तो एक असत्के उत्पत्ति से दूसरी, दूसरी से तीसरी इत्यादि प्रकार से अनवस्था दोष होगा, (अर्थोत्पत्तिः) उक्त दोष निवारणार्थ यदि ऐसा कहोगे कि उत्पत्ति–यह उत्पन्न होने वाले पदार्थ से कुछ भिन्न वस्तु नहीं है, किन्तु पट यही पट की उत्पत्ति हैं, (तथापीति) ऐसा जो कहोगे तो 'पट उत्पन्न होता है' ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पट व पट की उत्पति ये दोनों का ऐक्य होने से केवल 'पट' या "उत्पन्न होता है" इतना ही कहने से काम चल जायगा, अर्थात् 'पट' ऐसा एक बार कहने से उत्पन्न होता है' यह कहने की आवश्यकता नहीं रहेगी (ततश्चेति) और पट उत्पन्न होता है ऐसा कहोगे तो पट व उत्पन्न होना ये दोनों एक ही अर्थ के द्योतक होने से एक ही बात को निष्कारण दो बार कहने से जो दोष आता होता है वही पुनरुक्ति दोष प्राप्त होगा और वैसे ही 'पट नष्ट होता है' ऐसा भी कहना न होगा, क्योंकि पट व पटोत्पति यह पर्याय शब्द हैं, इससे 'पट नष्ट होता है' ऐसा कहने में विरोध दोष प्राप्त होगा, (उत्पत्ति) क्योंकि उत्पत्ति तथा बिनाश एक ही काल में एक ही वस्तु के आधार से रहना न्याय के विरुद्ध बात हैं।

तस्मादियं पटोत्पत्तिः स्वकारण समवायो वा स्वसत्तासमवायो वा, उभयथापिनोत्पद्यते, अथच तदर्थानिकारणानि व्यापार्य्यन्ते, एवं सत एव पटादेराविर्भावाय कारणापेक्षत्युपपन्नम् ।

(तस्मादियमिति) तस्मात्–उत्पत्ति पदार्थ रूप न होकर उससे प्रथक है तो इस उत्पत्ति का अर्थ क्या ? अपने कारण से रहने वाला उसका समवाय या अपनी सत्ता से रहने वाला समवाय ? उदाहरणार्थ—पट की उत्पत्ति यानी पट का कारण रूप तन्तुओं से रहने वाला संबन्ध नित्य है ? परन्तु यह नित्य संबन्ध होने से सदा एकसा रहने वाला 'पट की उत्पत्ति नित्य संबन्ध है' ऐसा कहने से उसकी यदा कदा होने वाली उत्पत्ति उत्पन्न कैसे होगी ? अस्तु, यह दोष निवारणार्थ 'अपनी सत्ता से रहने वाला समवाय' यह उत्पत्ति का दूसरा पक्ष लेने पर वह भी अयोग्य ठहरता है 'अपनी सत्ता से रहने वाला समवाय' यानी अपनी सत्ता से अपने कारण में रहने के कारण से रहने वाला समवाय ही है अर्थात् अपनी सत्ता तक रहने वाला, ऐसा यह कार्योत्पत्ति प्राक् नहीं रहता तथा इसी से यदा कदा रहना, इससे यद्यपि विरोध नहीं आता, तथापि समवाय रूप उत्पत्ति, क्रिया अनित्य होने से उक्त पक्ष द्वय में एक भी पक्ष सिद्ध नहीं होता, (अथेति) तस्मात् कारणों का जो व्यापार होता है वह कार्य की उत्पत्ति के लिये ही होता है, यह बात सब कबूल करेगा, (एवमिति) अर्थात् कारण रूप से सत रूप रहने वाले पटादिकों के आविर्भाव के ही लिये कारण व्यापार की अपेक्षा रहती है यह कथन युक्त है ।

न च पटरूपेण कारणानां संबन्धः तद्रूपस्याक्रियात्वात् क्रिया-सम्बन्धित्वाच्च कारणानाम्, अन्यथा कारणत्वाभावात् तस्मात्सत्कार्य मिति पुष्कलम् ।

अर्थ—अब पट का रूप तन्तु रूप से निर्माण होने के कारण तन्तु से निमित्त कारण का संबन्ध होना यही कार्य की उत्पत्ति है, तथा वह संबन्ध उत्पन्न होने वाला होने से उसको कारण व्यापार की अपेक्षा रहती है, ऐसा आप कहेंगे तो उस पर हमारा इतना ही कहना है कि (तत) रूप यह गुण है क्रिया नहीं, (क्रियेति)क्रिया–कर्ता, कर्म, करण इत्यादि कारक क्रिया से संबन्ध

रखा करते हैं, गुणों से सम्बन्ध कदापि भी नहीं रखते क्योंकि क्रिया से क्रिया से सम्बन्ध रखे विना कारक को कार्य कारणत्व ही प्राप्त नहीं होता, ऐसा नियम है, तस्मात् कार्य कारण के पहिले सत रहता है यह हमारा कहना बिलकुल सत्य व निर्दोष है ॥ ९ ॥

तदेवं प्रधान साधनानुगुणंसत्कार्यमुपपाद्य यादृशंतत् प्रधानं साधनीयं तादृशमादर्शयितुं बिवेकज्ञानोपयोगिनी सारूप्य वैरूप्ये ताव-दाह—"हेतुमद्" इति—

इस तरह प्रधान की सिद्धि के लिये अत्यन्त उपयोगी जो सतकार्य उसका उपादान करके सांख्य शास्त्र को जिस प्रकार के प्रधान की आवश्यकता पूर्वक सिद्धि करना है उसी प्रकार के प्रधान की पहिचान करवा देने के लिये प्रथम विवेक ज्ञानोपयोगी व्यक्ताव्यक्त के सारूप्यवैरूप्यका 'हेतु मद्' इस कारिका से प्रतिपादन करते हैं।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितंलिङ्गम् ।
सावयवं परतंन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

अर्थ—व्यक्त यह कारण सहित, विनासी एक देशी, क्रिया युक्त, अनेक कारणों का आश्रय किया हुआ, प्रधान का सूचक, अवयवयुक्त, तथा—नित्य कारणों के आधीन होने से परतंत्र है परन्तु अव्यक्त इससे विपरीत=कारण शून्य अविनासी, व्याप्त, अक्रिय इत्यादि रहता है ॥ १० ॥

व्यक्तं—हेतुमद्=हेतुः—कारणं तद्वद्, यस्य च यो हेतुस्तमुपरि-ष्टाद् वक्ष्यति ।

अर्थ—(व्यक्तमिति) व्यक्त–हेतुमत्व, अनित्यत्वादि अनेक धर्मों से युक्त रहता है। इस कारिका में वतलाये हुये उन धर्मों का ही अब स्पष्टी करण करना है, हेतुमद् याने हेतु वाला, हेतु (कारण)से युक्त, अर्थात् सकारण, किस व्यक्त का कौन सा कारण है, यह हम आगे २२ वीं कारिका में कहेंगे ।

अनित्यं=विनाशि तिरोभावीति यावद्, अव्यापि सर्वं परिणामिनं न व्याप्नोति, कारणेन हि कार्यमाविष्टं न कार्येण कारणं न च बुद्ध्या दयः प्रधानं वेविषन्तीत्यव्यापकाः ।

अनित्य याने नाश होने वाला परन्तु सांख्य का सत्कार्य बाद होने से कार्य का नाश होना युक्त नहीं है, ऐसा जानकर टीकाकार मिश्र जी ने विनाशी याने कारण में लय होने वाले ऐसा अर्थ किया है। (अव्यापि) अव्यापि याने सब परिणामियों को व्याप्त करने वाला, (कारणेनेति) कारण कार्य को व्याप्त करता है। परन्तु कार्य कारण को कभी भी व्याप्त नहीं कर सकता (न चेति) बुद्धि, अहंकारादि परिणाम, परिणामी प्रधान को कभी भी व्याप्त नहीं करते इससे वे अव्यापक है।

सक्रियं—परिस्पन्दवत्, तथाहि बुद्धयादय उपात्तमुपात्तं देहं त्यजन्ति देहान्तरं चोपाददत इति तेषा परिस्पन्द इति, शरीर पृथिव्या दीनां च परिस्पन्दः प्रसिद्ध एव।

अनेकम्—प्रतिपुरुषं बुद्धयादीनां भेदात्, पृथिव्याद्यपि शरीर घटादि भेदेनानेक मेव,

अर्थ—सक्रियं-याने परिस्पन्द वाले, बुद्धि, अहंकार इत्यादि व्यक्ति परिणाम, आद्य २ गृहीतदेहको छोड़ २ दूसरा देह धारण करते हैं, यही उनका परिस्पन्द है, (शरीरेति) शरीर, स्थूल पृथिव्यादिकों का परिस्पन्द प्रसिद्ध ही है (अनेकम्) अनेक-नाना बुद्ध्यादिक प्रत्येक मनुष्य के प्रति भिन्न भिन्न रहते हैं, पृथ्वी इत्यादि पदार्थ भी शरीर, घट, वृक्ष इत्यादि, अनेक भेदों के योग से अनेक हो गये हैं, यह भी स्पष्ट ही है।

'आश्रितं'—स्वकारण माश्रितं बुद्ध्यादि, कार्याणामभेदेपि कथं श्चिद् भेद विवक्षयाऽऽश्रयाश्रयिभावः यथेह वने तिलकाइत्युक्तः, 'लिङ्गम्' प्रधानस्य, यथाचैते बुद्धयादयः प्रधानस्य लिगंतथोपरिष्टाद् वक्ष्यात, प्रधानं तु न प्रधानस्य लिगं पुरुषस्य लिगं भवदपीतिभावः,

अर्थ—"आश्रितं" आश्रय किये हुये, बुद्धि, पृथ्वी इत्यादि, सर्व कार्य अपने कारण के आश्रय से रहते हैं, (कार्याणा मिति) वस्तुतः कार्य कारण का यद्यपि अभेद है, तो भी व्यवहारिक भेदों की अपेक्षा से कार्य तथा कारण इन दोनों में आश्रयाश्रयीभाव माना जाता है, जैसे वृक्ष समूह को 'वन' यह दृष्टान्त पहिले दिया गया है, 'लिङ्गम्' व्यक्त प्रधान के लिङ्ग हुआ

करते हैं। (यथेति) अब बुद्ध्यादि पदार्थ प्रधान के लिङ्ग कैसे होते हैं। यह बात आगे १६ वीं कारिका में बतलावेंगे, (प्रधानंतु) प्रधान पुरुष का लिङ्ग है, यह सत्य हैं। परन्तु वह (पुरुष) प्रधान का लिङ्ग नहीं होता।

'सावयवम्'-अवयवनम्—अवयव:—मिथः संश्लेष:-मिश्रणं—संयोगइति यावद्, अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोग:, तेनसह वर्तत इति सावयवं, तथाहि पृथिव्यादयः परस्परं संयुज्यन्ते, एवमन्येपि, नतु प्रधानस्य बुद्ध्यादिभिः संयोग:, तादात्म्याद्, नापि सत्वरजस्तमसां परस्परं संयोग:, अप्राप्तरभावाद्।

अर्थ—'सावयवम्'—याने अवयवयुक्त-अवयव याने परस्पर मिश्रण, संयोग, (अप्राप्ति) पहले प्राप्त न हुई वस्तु का प्राप्त होना ही संयोग कहलाता है, इस प्रकार संयोग के सहित व्यक्त रहता है अतएव उसको सावयव कहा है, (तथाहि) जैसे पृथिव्यादि पदार्थ परस्पर संयोग पाते हैं, वैसे ही इन्द्रिय मन इत्यादि भी संयोग पाते हैं। (नतु) परन्तु प्रधान का बुद्ध्यादिकों से संयोग नहीं होता, क्योंकि उनका उससे सदा तादात्म्य(अभेद) रहता है। (नापि) वैसे ही सत्व, रज, तम इन गुणों का भी परस्पर संयोग नहीं होता क्योंकि उनके अप्राप्ति का अभाव है अर्थात् वे सदा प्राप्ति ही रहते हैं। जिन पदार्थों की परस्पर प्राप्ति नहीं होती उनका संयोग होता है।

'परतंत्रम्'-बुद्ध्यादि, बुद्ध्या स्वकार्य्येऽहङ्कारे जनयितव्ये प्रकृत्याऽऽपूरोऽपेक्ष्यते, अन्यथा क्षीणासती नालमहङ्कारं जनयितुमिति स्थितिः, एवमहंकारादिभिरपि स्वकार्य्यजनने, इति सर्वं स्वकार्येषु प्रकृत्यापूरमपेक्षते-तेनपरां प्रकृतिमपेक्षमाणं कारणमपिस्वकार्य्यजनने परतंत्रं व्यक्तम्।

अर्थ—बुद्ध्यादि व्यक्त (पदार्थ) परतंत्र हैं, अपना कार्य जो अहंकार उसको उत्पन्न करते समय बुद्धि, प्रकृतिके तरफ से जोर मिले ऐसी दशा इच्छा करती है, क्योंकि उसको कार्य जनन समयमें प्रकृतिकी मदत होना आवश्यक है, यदि प्रकृति उसको नित्य यथा योग्य पुष्टि न देती रहेगी तो वह क्षीण होकर स्वकार्य उत्पन्न नहीं कर सकेगी, (एव मिति) इसी तरह अहंकारादि भी अपने कारण के नित्य सहाय विना अपना २ कार्य नहीं कर सकेंगे, सारांश सब

व्यक्त कारण अपने कार्योत्पत्ति के समय प्रकृति के तरफ की मदत चाहते हैं। (तेन) इससे मुख्य प्रकृती की अपेक्षा करने वाले, व्यक्त बुद्ध्यादि पदार्थ यद्यपि कारण हैं, तो भी अपने कार्योत्पत्ति के समय परतंत्र रहते हैं यह सिद्ध है।

'विपरीतमव्यक्तं' व्यक्ताद्, अहेतुमद्, नित्यं, व्यापि, निष्क्रियं, यद्यप्यव्यक्तस्यास्ति परिणामलक्षणाक्रिया तथापि परिस्पन्दोनास्ति, एकम्, अनाश्रितम्, अलिङ्गम्, अनवयवं, स्वतंत्रमव्यक्तम् ॥ १० ॥

ऊपर जो व्यक्त के धर्म बताये गये हैं, उनसे विपरीत-विरुद्ध धर्मों से अव्यक्त युक्त रहता है। अर्थात् वह कारण रहित नित्य व्यापी, क्रियाशून्य, एक, अनाश्रित, लिङ्ग, रहित व स्वतंत्र रहता है, परिणाम रूप क्रिया यह स्वतंत्र में भी रहती है, परन्तु उसमें परिस्पन्द नहीं होता, अतः उसको निष्क्रिय या क्रिया शून्य ऐसा कहते हैं।

तदनेन प्रबन्धेनव्यक्ताऽव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं। सम्प्रतितयोस्साधर्म्यं पुरुषाच्चवैधर्म्यमाह-'त्रैगुण्यम्' इत्यादिना।

उक्त दशवीं कारिका में व्यक्त व अव्यक्त इनका वैधर्म्य दर्शित कराया, अब इस ग्याहरवीं कारिका में उक्त दोनों का साधर्म्य तथा पुरुष से उनका वैधर्म्य कैसा है, यह 'त्रिगुणम्' द्वारा कहते हैं—

त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथाचपुमान् ॥ ११ ॥

व्यक्त, सुखदुःखात्मक, अविवेकी, विषयरूप, सर्व साधारण, जड़, व परिणामीहै, अव्यक्त भी उसी तरह है, परन्तु पुरुष उन दोनों से प्रथक् व विचित्र है ॥ ११ ॥

त्रयोगुणाः सुखदुःखमोहा अस्येतित्रिगुणं, तदनेन सुखादीनामात्मगुणत्वं पराभिमतमपाकृतम्।

व्यक्त के, अव्यक्त से यानी प्रधान से मिलते हुये धर्म इस तरह हैं, सुख, दुख, व मोह ये तीन गुण जिसके हैं, उसी को त्रिगुण कहते हैं, (तदनेन) प्रस्तुति स्थल में गुण शब्द का अर्थ-सत्व, रज, तम, न होकर उनके कार्यों के

अभिप्राय से योजित किया है, उक्त अर्थ का तात्पर्य यह है कि नैयायिकों के मत से सुखादि गुण आत्मा में माने जाते हैं, उसका खण्डन उक्त अर्थ से किया है।

अविवेकि=यथाप्रधानंनस्वतो विविच्यते एवं महदादयोपि न प्रधानाद् विविच्यन्ते तदात्मकत्वाद्, अथवा-सम्भूयकारिताऽत्राविवेकः, नहि-किञ्चिदेकं पर्य्याप्तं स्वकार्य्येऽपितु सम्भूय, तत्रनैकस्मान् कस्यचित्केनचित्संभव इति।

जैसे प्रधान का विवेचन नहीं कर सकते; वैसे ही महत् अहंकार इत्यादिकों का भी प्रधान से भिन्न है, ऐसा विवेक नहीं कर सकते क्योंकि महदादिक व प्रधान इनका तादात्म्य है,(अथवेति) या सम्भूयकारित्व याने अविवेक, इस तरह से समझो कि, सम्भूय=मिलकर, कारित्व=करवाना-इस धर्म युक्त, सारांश मिलकर करवाना याने अबिवेक, (नहीति) महत्-अहंकारादिकों में से कोई भी एक तत्व अकेला अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु परस्पर मिलकर ही वे स्वकार्य कर सकते हैं, (तत्रेति) तात्पर्य किसी भी एक तत्व से किसी भी कार्य की किसी प्रकार से उत्पति नहीं हो सकती।

येत्वाहुर्-विज्ञानमेव हर्षविषाद मोहशब्दाद्याकारं न पुनरितोऽन्यस्तद्धर्मेति, तान् प्रत्याह-"विषय" इति, विषयः=ग्राह्यः-विज्ञानाद् वहिरितियावद्, अतएव 'सामान्यं'=साधारणम्-अनेकैः पुरुषैर्गृहीतमित्यर्थः।

अर्थ—(येत्वाहुः) जो यह कहते हैं कि(यह कहना बौद्धोंका है)विज्ञानही हर्ष, विषाद, मोह, शब्द इत्यादिकोंके आकारका होता है,इससे प्रथक हर्षादिकों का आश्रयी पदार्थ दूसरा नहीं हैं, परन्तु (हमने)विषय व प्रधान हैं,एसा कह कर खंडन किया है, (विषय) बिषय याने ग्राह्य ज्ञानसे जिसका ग्रहण करते हैं। ऐसा विज्ञान से प्रथक यह भाव है, (अतएव) और विज्ञान से प्रथक होने के कारण ही व्यक्त व प्रधान ये दोनों साधारण हैं, जैसे जगत में घट, पट इत्यादि कोई एक पदार्थ अनेक पुरुषों के व्यवहारका विषय होता है,इसी से उनको सर्व साधारण कहते हैं, उसी तरह व्यक्त व प्रधान भी अनेक पुरुषों के उपयोगी होने से उन दोनों तत्वों को साधारण ऐसा कहते हैं।

विज्ञानाकारत्वे त्वसाधारण्याद्विज्ञानानां वृत्तिरूपाणां तेऽप्यसाधारणाः स्युः, (विज्ञानं यथा परेण न गृह्यते परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादित्यभिप्रायः) तथाचनर्तकी भ्रूलताभंग एकस्मिन् बहूनां प्रतिसंधानं युक्तम्, अन्यथातन्न स्यादितिभावः ।

अर्थ—हर्ष शोकादि सब विकार विज्ञान के ही आकार हैं, यानी विज्ञान से प्रथक नहीं हैं, यह कथन यदि सत्य होता तो वृत्ति रूप विज्ञान असाधारण होने के कारण अर्थात् एक पुरुष का वृत्ति विज्ञान दूसरे के काम का न होने से वे वृत्तिरूप बिकारकोभी असाधारण होजाना था, अर्थात् एक की बुद्धि दूसरे के लिये अप्रत्यक्ष होने से एक के विज्ञान का दूसरे को ग्रहण करनेमें नहीं आता, वैसे ही उनका ग्रहण न करनेमें आता,(तथा च नर्त कीति) और ऐसा यदि सत्य हो जाता तो एक नाचने वाली नर्तकी के (भ्रूविक्षेप) भौं टेढ़ी करने पर उसका जो अनेक प्रेक्षकों को एक सरीखा प्रत्यय आता है,वह न आता क्योंकि भ्रूविक्षेप करना यह भी तो एक विज्ञान ही का आकार है और जिसके विज्ञान का वह आकार है, उसी को उसका प्रत्यक्ष आना योग्य है, दूसरे को प्रत्यक्ष आना अशक्य है, यह निःसंशय है, तात्पर्य व्यक्त व प्रधान सर्व साधारण बिषय होने से बौद्धों के विज्ञानवाद का खंडन हुआ

अचेतनं—सर्व एव प्रधान बुद्‌ध्यादयोऽचेतना नतु वैनाशिक वच्चैतन्यं बुद्धेरित्यर्थः ।

अर्थ—प्रकृत (सांख्य) शास्त्र में प्रधान बुद्ध्यादि सब जड़ हैं, ऐसा सिद्ध किया है, अर्थात् वैनाशिकों (बौद्धों) के सदृश 'बुद्धि का चैतन्य होना' हम नहीं मानते ।

प्रसवधर्मि–प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि, प्रसव धर्मेतिवक्तव्येमत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्यनित्ययोगमाख्यातुं, सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपिवियुज्यत इत्यर्थः । व्यक्तवृत्तमव्यक्तेऽतिदिशति "तथाप्रधानम्" इति, यथा व्यक्तं तथाऽव्यक्तमित्यर्थः ।

अर्थ—(प्रसवेति) प्रधान तथा व्यक्त ये दोनों तत्व प्रसवधर्मी हैं– व्याकरण के नियम से यहां 'प्रसवधर्म' ऐसा पद होना था, परन्तु कारिकाकार

(ईश्वर कृष्ण) ने 'प्रसवरूप धर्म है जिसका सो प्रसवधर्मि' ऐसा अर्थ शब्दाभिप्रेत, होने से प्रसवधर्मी यह शब्द यहां लिखा है—प्रसवधर्मी यानी नित्य परिणामी, (सरूपेति) वे (प्रधान व व्यक्त) सरूप तथा विरूप परिणाम के बिना कभी नहीं रहते। (व्यक्तवृत्त ेति) मूल में त्रिगुण, अविवेकी इत्यादि सब विशेषण एक बचनी लिखकर उनका सम्बन्ध व्यक्त से लगाया है, बाद 'तथा प्रधानम्' अर्थात् प्रधान भी व्यक्त के सदृश ही है, यह सूचित कराया है अर्थात् व्यक्त व प्रधान इन दोनों का एक ही धर्म है।

ताभ्यांवैधर्म्यं पुरुषस्याह—"तद्विपरीतः पुमान्" इति, स्यादेतद्—अहेतुमत्वनित्यत्वादिप्रधानसाधर्म्यमस्ति पुरुषस्य, एवमनेकत्वंव्यक्तसाधर्म्यं तत्कथमुच्यते "तद्विपरीतः पुमान्" इति अत आह—"तथाच" इति। चकारोऽप्यर्थः, यद्यप्यहेतुमत्वादिकं साधर्म्यं तथाप्यत्रैगुण्यादिवैपरीत्यमस्त्यस्त्येवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

अर्थ—अब व्यक्त व प्रधान इन दोनों से पुरुष का वैधर्म्य कैसे है—सो कहते हैं—'तद्विपरीतः' अर्थात् पुरुष इन उक्त दोनों से भिन्न है, वह निर्गुण निष्क्रिय, विवेकी, अप्रसवधर्मी, चेतन इत्यादि प्रकार का है। परन्तु यहां यह शंका है कि—अहेतुमत्व, नित्यत्व इत्यादि धर्म जैसे प्रधान में हैं वैसे ही पुरुष में भी होने से– पूर्ण तो नहीं, किन्तु थोड़ा तो भी साधर्म्य है ही, वैसे ही अनेकत्व यह धर्म पुरुष व व्यक्त में सदृश होने से इनका भी थोड़ा साधर्म्य सा हो जाता है। तो आप इन दोनों तत्वों से प्रथक विलक्षण पुरुष है ऐसा कहते हो ? इसका समाधान ऐसा है कि–उक्त शंका का निवारणार्थ कारिका में 'तथाच' का 'च' इसी अर्थ का बोधक रक्खा गया है कि—(यद्यपि) अहेतुमत्व-इत्यादिकों की दृष्टि से यद्यपि इनका (प्रधान व व्यक्त का) साधर्म्य है तो भी त्रिगुणत्व, अत्रिगुणत्वादि में 'इनमें' परस्पर वैधर्म्य है ही ॥ ११ ॥

त्रिगुणमित्युक्तं, तत्र के ते त्रयोगुणाः किञ्चतल्लक्षणम् इत्यतआह—"प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका इति।

पहली कारिका ११ वीं में 'त्रिगुणं' ऐसा कहा है, परन्तु वे तीन गुण कौन से व उनके लक्षण कौन २ हैं यही दर्शाते हैं—

प्रीत्य प्रीति विषादात्मकाः प्रकाश प्रवृत्ति नियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभि भवाश्रय जनन मिथुन वृत्तयश्च गुणाः ॥ १२

अर्थ—सत्वादि गुण सुख, दुःख मोहात्मक हैं, प्रकाश, प्रवृत्ति तथा नियमन यह उनका अर्थ (फल) है और परस्पर पराभव करके, परस्पर आश्रय करके, परस्पर उत्पन्न करके तथा परस्पर एक साथ रहकर अपना कार्य करते हैं।

गुणाः इतिपरार्थाः, 'सत्वं लघुप्रकाशकम्' इत्यत्र च सत्वादयः क्रमेण निर्देक्ष्यन्ते तदनागतावेक्षणेन तंत्रयुक्त्या वा प्रीत्यादीनां यथा संख्यं वेदितव्यम्।

अर्थ—यहां गुण शब्द का अर्थ—दूसरे के भोगों का साधन, ऐसा जानना, आगे १३वीं कारिकामें सत्वादि गुणोंका नाम निर्देश किया है,सो उनका यहां पर अनागत वेक्षण न्याय से-यह न्याय उसको कहतेहैं कि आगे आनेवाले शब्दों का सम्बन्ध पीछे वाले शब्दों से जोड़ना, वैसे ही एक बार उच्चारित शब्द का दोनों तरफ से अन्वय करने को तंत्र युक्ति कहते हैं—इस कारिका में सत्वादि गुणों का लक्षण कहा है, परन्तु नाम निर्देश नहीं किया, ऐसा करना दोष है। अतएव उक्त न्याय से शब्दों का यथा क्रमसे अन्वय करने के लिये कहा है।

एतदुक्तंभवति-प्रीतिः=सुखं,प्रीत्यात्मकःसत्वगुणः,अप्रीतिः=दुःखम्-अप्रीत्यामको रजोगुणः, विषादः=मोहः-विशादात्मकस्तमो गुण इति, येतु-मन्यन्ते 'न प्रीतिर्दुःखाभावादतिरिच्यते, एवं दुःखमपि न प्रीत्यभावा दन्यद्' इति, तान् प्रति आत्मग्रहणम्।

अर्थ—प्रीति=सुख, सत्वगुण सुख रूप रहता है,अप्रीति=दुःख, रजोगुण दुःख रूप रहता है, विषाद=मोह, तमोगुण मोह रूप होता है, (येतु) जो -प्रीति या सुख दुःखाभावसे भिन्न नहीं है,वैसे ही दुःख सुखाभाव से प्रथक नहीं है, अर्थात् सुख यानी दुःखाभाव तथा दुःख यानी सुखाभाव ही है, ऐसा कहने वालों के मत खंडनार्थ ही मूलमें 'आत्मकाः' यह शब्द रक्खा गया है।

नेतरेतराभावाः सुखादयोऽपितुभावाः,आत्मशब्दस्यभावबचनत्वात् प्रीतिरात्माभावो येषांते प्रीत्यात्मानः, एवमन्यदपि व्याख्येयम्, भावरूपता

चैषामनुभव सिद्धा, परस्पराभावात्मकत्वेतु परस्पराश्रयापत्तेरेकस्याप्यसिद्धे रुभयासिद्धिरितिभावः।

अर्थ—(नेतरेति) आत्मा यह शब्द भाव इस अर्थ में योजित होने से सुखदुःखादिशब्दपरस्पर एक-एकके अभावरूप न होकर वे स्वयं भावरूप हैं ऐसा सिद्ध होता है, इसका अर्थ ऐसा है कि, सुख यही जिसका भाव है,वह सत्वगुण, इसी तरह दुःख यही भाव जिसका है वह रजोगुण;बिषाद यही है भाव जिसका वह तमोगुण, इसी से (भावरूपेति) सुखादिभाव रूप हैं यह अनुभव सिद्ध है, सुख तथा दुःख ये यदि एक एक के अभावरूप होते तो दोनों अन्योन्याश्रय होने से एक की भी सिद्धि न होती, क्यों कि जो परस्पराश्रय रहित रही नहीं सकते उनको सिद्धि होती ही नहीं, ऐसा अनुभव तथा नियम भी है, उदाहरणार्थ सुख यह दुःख का अभाव है। ऐसा कहने पर दुःख के बिना सुख की उत्पत्ति हो ही नहीं सकेगी, यह बात तो स्पष्ट ही है, क्योंकि जिस पदार्थ का अभाव होगा उसका अस्तित्व तो पहिले कभी भी होना चाहिये या नहीं ? इससे अभाव यह उच्चारण करते ही उस पदार्थ का भाव था या है, यह उसी के मुंह से सिद्ध होता है। अर्थात् दुःख के अभाव के बिना सुख नहीं हो सकता परन्तु दुःख का अर्थ क्या है ? तो सुख का अभाव यानी दुःख भी सुख के (अभाव) बिना नहीं रह सकता, तो इन दोनों में प्रथम कौन था ? सुख या दुख ? इसका निर्णय नहीं होता, क्योंकि कोई भी एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता अतः आश्रय होना ही चाहिये। सारांश इस तरह के जो अन्योन्याश्रयी पदार्थ होते हैं उनकी कभी सिद्धता होती ही नहीं। अस्तु।

स्वरूपमेषामुक्त्वा प्रयोजनमाह—"प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः" इति, अत्रापियथासंख्यमेव। रजःप्रवर्तकत्वात्सर्वत्रलघुसत्वं प्रवर्तयेद् यदि तमसागुरुणा न नियम्येत, तमोनियतं तु कचिदेवप्रवर्तयतीतिभवति तमोनियमार्थम्।

अर्थ—इस तरह सत्वादि गुणों का स्वरूप बतलाकर अब उनका प्रयोजन बतलाते हैं। "प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः" इस सामासिक शब्द में प्रकाश, प्रवृत्ति व नियम ऐसे तीन शब्द हैं वे क्रम से सत्व, रज, तम इनका फल

बतलाते हैं ऐसा जानना । प्रकाश यह कार्य सत्वगुणका है,प्रवृत्ति यह कार्य्य रजोगुण का है, व सत्व, रज का नियमन करना यह तमोगुण का कार्य है। (रजःप्रवृत्तिकत्वेति) रजोगुण यह प्रवर्तक होने से गुरु तमोगुण में उसका नियमन किया तो वह सदा लघु सत्व गुण को प्रवृत्त किया करेगा, परन्तु तमोगुण से नियमन किया हुआ रजोगुण सत्वगुण को कभी २ प्रवृत्त करता है अतएव तम यह नियमार्थ है ऐसा निःसंशय सिद्ध होता है।

प्रयोजनमुक्त्वा क्रियामाह—"अन्योन्याभिभवाश्रयजनन मिथुन वृत्तयश्च" इति।

वृत्तिः=क्रिया,सा च प्रत्येकमभिसंबध्यते,अन्योन्याभिभव वृत्तयः= एषामन्यतमेनार्थ वशादुद्भूतेनान्यदभिभूयते, तथाहि—सत्वंरजस्तमसी अभि भूय शान्तामात्मनो वृतिं प्रतिलभते, एवं रजः सत्वतमसी अभिभूयघोराम्, एवंतमः सत्वरजसी अभिभूय मूढ़ामिति।

अर्थ—इस तरह से गुणों का प्रयोजन कथन कर अब उनकी क्रिया 'अन्योन्य' इत्यादि पद द्वारा कथन करते हैं, (वृत्तिः) इस सामासिक पद का 'वृत्तयः' यानी क्रिया ऐसा अर्थ करना तथा उसका अन्योन्याभिभव, अन्योन्याश्रय, अन्योन्यजनन, तथा अन्योन्यमिथुन इन चारों भेदों (प्रकारों) में संबंध लगाना, ऐसा सम्बन्ध लगाने पर उनका अर्थ इस तरह का होगा, (एषामिति) ये गुण अन्योन्याभिभव वृत्ति के हैं, अर्थात् इन तीन गुणों में से कार्यवशात् एक गुण की वृद्धि होने पर अन्य दो गुण उससे पराभूत हो जाते हैं (तथाहि) जैसे सत्वगुण की वृद्धि हुई, कि रज व तमका पराभव करके अपनी शान्ति वृत्ति को प्राप्त होता है, वैसे ही रजोगुण सत्व तम का पराभव करके अपनी घोर वृत्ति को प्राप्त होता है, तथा तमोगुण सत्व रज का पराभव करके मूढ वृत्ति को प्राप्त होता है।

अन्योन्याश्रय वृत्तयः=यद्यप्याधाराधेय भावेन नाश्रयार्थो घटते तथापि यदपेक्षया यस्यक्रियासतस्याश्रयः, तथाहि सत्वं प्रवृत्ति नियमा वाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्येतरयोः, तमः प्रकाशप्रवृत्ति आश्रित्यनियमेनेतरयोरिति।

अर्थ—(यद्यपि) ये गुण अन्योन्याश्रय वृत्ति के हैं, परन्तु ये गुण प्रकृति के आश्रय से रहने वाले होने से इनमें परस्पर आधाराधेय भाव नहीं हो सकता, यद्यपि यह सत्य है, तथापि वहां पर जिसकी अपेक्षा से जो क्रिया होती है, वह उसका आश्रय माना गया है, (तथाहि) जैसे सत्व गुण, प्रवृत्ति व नियमन इनका आश्रय कर प्रकाश के द्वारा रज तम इन पर उपकार करता है, (रजेति) रजोगुण, प्रकाश व नियमन का आश्रय कर प्रवृत्ती के द्वारा सत्व, तम पर उपकार करता है, वैसे ही तमोगुण, प्रकाश प्रवृत्ति का आश्रय कर नियमन द्वारा सत्व रज पर उपकार करता है, तात्पर्य ये गुण परम्परा श्रय से क्रिया किया करते हैं ।

अन्योन्यजनन वृत्तयः=अन्यतमोऽन्यतममपेक्ष्य जनयति, जननञ्च परिणामः, सचगुणानां सदृशरूपः, अतएव न हेतुमत्वं, तत्वान्तरस्य हेतोरभावाद्, नाप्यनित्यत्वं, तत्वान्तरेलया भावाद् ।

अर्थ—ये गुण अन्योन्य जनन–वृत्ति के कैसे हैं सो कहते हैं—(अन्य तमेति) इन तीनों गुणों में से कोई भी एक गुण अन्य किसी एक गुण को उत्पन्न करता है, (जननश्चेति) यहां 'जनन' का अर्थ परिणाम है (सेति) वह परिणाम (जनन)गुण के स्वरूप का ही रहता है, (अतएवेति) इसी कारण से वे (गुण) कारण शून्य है, यह दशवीं कारिकामें कह चुके हैं । (तत्वान्तरेति) क्यों कि गुणों से भिन्न ऐसा कोई एक तत्व गुणों का परिणाम है ऐसा कोई दिखा नहीं सकता । (नेति) वैसे ही ये गुण अनित्य हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते । (तत्वेति) क्योंकि जिसका अन्य तत्व में लय हो जाता है । वही पदार्थ अनित्य है । परन्तु इनको अन्यतत्वों में लय न होने से अनित्य नहीं कह सकते ।

'अन्योन्यमिथुनवृत्तयः'=अन्योन्यसहचराः–अविनाभाववर्तिनइति यावत्, 'चः' समुच्चये, भवतिचात्रागमः–'अन्योन्यमिथुनाःसर्वेसर्वेसर्वत्र गामिनः । रजसोमिथुनंसत्वं सत्वस्यमिथुनंरजः । तमसश्चापिमिथुनेतेसत्व रजसो उभे। उभयोः सत्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते । नैषामादिःसम्प्रयोगो वियोगोवोपलभ्यते इति ॥ १२ ॥

अर्थ—(अन्योन्येति) ये गुण सदा सहचारी–अर्थात् परस्पर एक को एक छोड़कर कदापि नहीं रहते। इसीसे कारिका में 'च' यह समुच्चयवाची शब्द दिया है। इसका खुलासा पहिले हो चुका है। अस्तु, हमने यहां तक जो कुछ बतलाया है उसी के समर्थक ये प्रमाण वाक्य हैं। सारांश यह है कि ये गुण परस्पराश्रय से तथा परस्पर साथ रहने वाले और सर्वत्र गमन करने वाले हैं। (रज सेति) रजोगुणका सहचर सत्व गुण तथा सत्व का सहचर रजोगुण है। (तमसेति) तमोगुणके सत्व रज ये दोनों गुण सहचर हैं, (उभयोरिति) वैसे ही सत्वरज इन दोनों का सहचर तमोगुण है, इसका आद्य (मूल) कारण संयोग वा वियोग इनमें से एक की भी प्राप्ति नहीं होती ॥ १२ ॥

'प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्था' इत्युक्तं, तत्र के त इत्थंभूताः कुतश्चेत्यत-आह "सत्वं लघु" इत्यादि।

अर्थ—प्रकाश, प्रवृत्ति तथा नियमन ये उन (गुणों) के कार्य हैं, यह १२ वीं कारिका में कह गये हैं, परन्तु जिनके ये कार्य हैं ऐसे प्रकार के वे कौन हैं तथा उनकी क्रिया किस हेतु से होती है यह 'सत्वलघु' द्वारा कहते हैं।

सत्वं लघु प्रकाशकमिष्ट मुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेवतमः प्रदीपश्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

सत्व गुण लघु (हलका) तथा प्रकाशक है, रजोगुण उत्साहोत्पादक व अस्थिर है, तमोगुण गुरु (जड़) व आच्छादक है, ये गुण यद्यपि तत्वतः एक के विरोधी हैं, तथापि उनकी दीपवत पुरुषार्थ के लिये प्रवृत्ति होती है।

सत्वमेव लघु प्रकाशक मिष्टं सांख्याचार्य्यैः, तत्रकार्योद्‌गमने हेतु धर्मोलाघवं, गौरव प्रतिद्वन्द्वि यतोऽग्ने रूर्ध्वज्वलनं भवति, तदेवलाघवं कस्यचित् तिर्य्यग्गमने हेतुर्भवति, यथावायोर्, एवं करणानां वृत्तिपटुत्वे हेतुर्लाघवं, गुरुत्वेहि मन्दानिस्युर्, इति सत्वस्य प्रकाशकत्वमुक्तं।

(सत्वेति) सांख्याचार्यों को सत्व गुण का धर्म लघु व प्रकाशक ही इष्ट है, (तत्रेति) कोई–कार्य की ऊर्ध्व प्रवृत्ति होने में हेतुभूत जो (मूल) धर्म है उसीको लाघव कहते हैं, (गौरवेति) यह गौरव (गुरुता) धर्म के विरुद्ध रहता है, (यतः) जिस लाघवता के योग से अग्नि की ज्वाला ऊपर को जाती

है, (तदेवमिति) वही लाघव गुण क्वचित् तिर्यक् (तिरछे) गमनमें भी कारण होता है।

उदाहरणार्थ—वायु का (एवमिति) जैसे इंद्रियों में स्व २ विषय ग्रहण का जो पटुत्व (कुशलता) देखने में आता है, वह इस सत्व गुण के लाघवता का ही कारण है, (गुरुत्वे) गुरुत्व के योग से वे मंद हो जाया करती हैं, अर्थात् सत्व गुण में यदि लाघव गुण न होता तथा उसमें गौरव गुण होता तो इंद्रियां मन्द हो जाती, (इतीति) इसी से सत्व प्रकाशक है।

सत्वतमसी स्वयमक्रियतया स्वस्व कार्यं प्रवृत्ति प्रत्यवसीदन्ती रजसोपष्टभ्येते-अवसादात्प्रच्याव्य स्वकार्ये उत्साह प्रयत्नं कार्य्येते. तदिद मुक्तम् 'उपष्टम्भकं रज' इति, कस्माद्, इत्यतउक्तं 'चलम्' इति, तदनेन रजसः प्रवृत्यर्थत्वं दर्शितम।

अर्थ—(सत्वेति) परन्तु सत्व व तम ये गुण स्वयं क्रियाशून्य हैं, इससे वे अपने २ कार्य में प्रवृत्त होने में असमर्थ रहते हैं, उनको रजोगुण कार्य में प्रवृत्त कराता है, (अवसादादिति) अर्थात् उन (सत्व तम) को शैथिल्य से दूर करके स्वस्व कार्य करने में उत्साह युक्त करता है, मतलब कार्या नुकूल प्रयत्न करवाता है, इसी कारण से यहां 'उपष्टम्भकं रजः, ऐसा कहा है, (कस्मादिति) वह (रज) सत्व तथा तम इनका उत्साह कैसे बढ़ाता है ? यह शंकाकोई २ करते हैं-इसीसे कहते हैं कि—(चलमिति) वह चल है, ऐसा कहने मात्र ही से वह (रज) प्रवृत्त कराने वाला है, यह सिद्ध होता है।

रजस्तुचलतयापरितस्त्रैगुण्यं चालयद्गुरुणाऽऽवृण्वता च तमसा तत्र तत्र प्रवृत्तिप्रतिवन्धकेन क्वचिदेवप्रवर्त्यतइति ततस्ततोऽव्यावर्त्यतमो नियामकमुक्तं 'गुरु' वरणकमेवतमइति,एवकारः प्रत्येकंभिन्नक्रमःसंबध्यते-सत्वमेव रज एव, तम एव, इति।

अर्थ—रजोगुण चल होने से सत्वादि गुणों को स्व २ कार्य में चलन देते समय, वह (रज) प्रवृत्ति को प्रतिबन्ध करने वाला तम द्वारा आच्छादित किया जाता है। इसीसे वह क्वचित् किसी काम में प्रवृत्त हो सकता है।

सारांश—तमोगुण सदा उसको प्रवृत्त नहीं होने देता इसी से गुरु उस २ कार्य से रजोगुणको हटाकर तमोगुण नियमित करता है, ऐसा कहा है,(वरणकेति) तमोगुण गुरु व आच्छादक है, (एवेति) मूल में जो 'एव' कार है वह निश्चय वाची है, उसका प्रत्येक गुण के आगे अन्वय लगाने से सत्वमेव, रज एव, तम एव ऐसा अन्वय होने से–सत्वलघु व प्रकाशक है, उत्साह वर्धक व चल, ऐसा रजोगुण ही है, गुरु व आच्छादक तमोगुण ही है–ऐसा अर्थ निष्पन्न होगा ।

नन्वेतेपरस्परविरोधशीला गुणाः सुन्दोपसुन्दवत्परस्परंध्वंसन्ते इत्येवयुक्तंप्रागेवतेषामेकक्रियाकर्तृतायाइत्यतआह–"प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिर्" इति, दृष्टमेतद्, यथावर्तितैलेऽनलविरोधिनी अथ च मिलितेसहानलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतः यथा वा—

वातपित्तश्लेष्माणः परस्परविरोधिनः शरीरधारणलक्षण कार्य्यं कारण एवं सत्वरजस्तमांसिमिथोविरुद्धान्यप्यनुवत्स्यन्ति च स्वकार्यं करिष्यन्ति च ।

अर्थतः—पुरुषार्थतइतियावद्, यथावक्ष्यति 'पुरुषार्थएवहेतुर्नकेन चित्कार्यते करणम्' इति, (का० ५१)

इस पर यदि कोई ऐसा कहे कि–ये परस्पर विरोधी गुण सुन्द व उप-सुन्द नामक राक्षसों के सदृश आपस में मिलकर कोई भी एक क्रिया करने के पहिले ही नाश को प्राप्त हो जावेंगे, इस शंका के निरसनार्थ ही कारिका में "प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिः" ऐसा कहा है । (दृष्टमेतद्) तथा प्रत्यह व्यवहार में देखते हैं कि बत्ती (कपास) व तेल ये दोनों अग्नि से मिलकर प्रकाशरूप कार्य करते हैं । (यथेति) अथवा बात, पित्त, व कफ ये तीनों दोष परस्पर विरोधी हैं परन्तु वे तीनों मिल कर शरीर धारण रूप कार्य करते हैं, (एव-मिति) वैसे ही सत्व, रज, तम, ये तीनों गुण यद्यपि वस्तुतः परस्पर विरोधी हैं, तथापि वे एक दूसरे के कार्य में परस्पर सहायता करते हैं व अपने अपने भी कार्य करते हैं उनके ऐसा करने का हेतु पुरुषार्थ ही है । और वे सब पुरुषार्थ के लिये ही करते हैं ।

अत्र च सुख दुःखमोहाः परस्पर विरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुख दुःख मोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति, तेषां च परस्परमभिभावक भावान्नानात्वं,तद् यथा–ऐकैव स्त्री रूप यौवन कुल सम्पन्ना स्वामिनं सुखा करोति, तत्कस्यहेतोः स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूप समुद्भवात्. सैब स्त्री सपत्नी दुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः, ताःप्रति तस्या दुःख रूप समुद् भवाद्, एवं पुरुषान्तरंत मविन्दमान सैब मोहयति, तत् कस्य हेतोः, तम्प्रति तस्या मोह रूप समुद्भवाद्, अनयार्चास्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः ।

अर्थ—(अत्रेति) यहां सुख दुःख तथा मोह परस्पर विरोधी होकर के वे अपने अपने अनुरूप सुख दुःख मोह रूपी कल्पना करते हैं, (तेषामिति) वे परस्पर पराभव पाने वाले तथा पराभाव करने वाले होने से उन (गुणों) में नानात्व की प्राप्ति होती है, (तदिति) वही बात दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं, (ऐकैवेति) रूप, यौवन, कुल, शील, इनसे युक्त एक स्त्री अपने स्वामी (पति) को आनन्दित करती है, (तदिति) परन्तु वह किस कारण से ? (स्वामिनमिति) तो उसको वह सुख रूप भासित होता है। इसीसे, (सैवेति) परन्तु वही स्त्री अपने सपत्नी (सौत) को दुःखी करती है। इसका कारण क्या ! (ताः) तो वह उस सौत) को दुःख कारकरूप ही भासित होती है, (एवमिति) तद्वत् वैसे ही जिस किसी पुरुष को वह प्राप्त नहीं होती उस पुरुष को मोहित करती है, (तदिति) इसका कारण क्या ? (तमिति) तो उस पुरुष को उसका रूप मोहक दिखाता है इसी कारण से, (अनयेति) इस स्त्री के द्वारा हमने सब भावों (पदार्थों) का स्पष्टीकरण किया है।

तत्र यत्सुखहेतुस्तत्सुखात्मकं सत्वं, यद् दुःख हेतुस्तद् दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तम इति, सुखःप्रकाशलाघवानान्त्वे कस्मिन् युगपदुद्भूतावविरोधः सहदर्शनात् तस्मात्सुखदुःख मोहैरिव विरोधिभिरविरोधिभिरेकैकगुणवृत्तिभिः सुख प्रकाश लाघवैर्न निमित्त भेदा उन्नीयन्ते,एवं दुःखोपष्टम्भकत्व प्रवर्तकत्वैर ,एवं मोहगुरुत्वावरणैर , इतिसिद्धं त्रैगुण्य मिति ॥ १३ ॥

अर्थ--(तत्रेति) इस उक्त दृष्टान्त में जो सुख को कारण होने वाला वह सुख सत्व रूप, (यदिति) जो दुःख का हेतु होने वाला वह रजोरूप, जोमोह का कारण होने वाला वह तम है, (सुखेति) सुख प्रकाश, तथा लाघव इन तीनों की एक ही काल में एकाश्रय से उत्पत्ति होने में कोई हरकत नहीं है, क्योंकि ये तीनों गुण एक साथ रहते हैं। (तस्मादिति) इससे परस्पर विरुद्ध, सुख दुःख मोह कि जैसे-एक स्त्री के प्रति व्यक्ति भेद से स्थिती होती है, वैसे ही परस्पर विरुद्ध प्रकाश लाघव सात्वादिधर्मों की एक ही काल तथा स्थलमें स्थिती होनेसे कोई बाधा नहीं,अर्थात् उनके ऊपरसे उनके निमित्त (कारण) प्रथक हैं, ऐसा तर्क नहीं हो सकता, (एवमिति) दुःख उपष्टम्भकत्व तथा प्रवर्तकत्व इस रजोगुण के कार्य पर से तथा मोह, गुरत्व, और आवरण इन तमोगुण के कार्य पर से उनके प्रथक २ हेतु (कारण) की सिद्धी नहीं होती, इस तरह तीनों गुणों की सिद्धी सिद्ध हुई।

स्यादेतद्, अनुभूयमानेषु पृथिव्यादिष्वनुभवसिद्धा भवन्त्व विवेकित्वादयः ये पुनः सत्वादयो नानुभव पथमधिरोहन्ति तेषां कुतस्त्य मविवेकित्वं विषयत्व सामान्यत्वंमचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वं च इत्यत आह "अविवेक्यादेस्सिद्धर्" इति,

अब इस पर यदि कोई एसी शंका करे कि—जिसका अनुभव होता है, ऐसे पृथिव्यादि पदार्थों के प्रति अविवेकादि धर्म अनुभव सिद्ध होने दो, परन्तु जिसका अनुभव प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसे सत्वादि गुणों का अविवेकित्व सामान्यत्व, जड़त्व, तथा प्रसव धर्मित्व कहां से सिद्ध होगा ? इस पर "अविवेक्यादेः" कारिका द्वारा ग्रन्थकर्ता दर्शाते हैं।

अविवेक्यादेस्सिद्धि स्त्रैगुण्यात्तद्विपर्यया भावात् ।
कारण गुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपिसिद्धम् ॥१४॥

अर्थ—त्रैगुण्य द्वारा अविवेकित्वादि धर्मों की सिद्ध होती है जो त्रिगुण युक्त नहीं होता उसमें ये धर्म भी नहीं रहते, तथा कार्य कारण गुण रूप होने से अव्यक्त की भी सिद्ध होती है ॥ १४ ॥

अविवेकित्व मविवेकी, यथा-"द्वयेकयोर्द्विवचनैक वचने" इत्यत्र द्वित्वैकत्वयोरिति, अन्यथा द्वयेकेष्विति स्यादिति।

अर्थ—कारिका में 'अविवेकि' ऐसा पद है, परन्तु उसका अर्थ 'अविवेकित्व ऐसा करना चाहिये। उदाहरणार्थ—पाणिनीय सूत्र में जो 'द्व्येकयो' यह पद है, वह भी भाव वाचक होनेसे ही द्वित्व एकत्व मिलकर 'द्वित्वैकत्वयोः' ऐसा अर्थ करना ठीक होगा। यदि भावार्थ प्रधान न रक्खेंगे तो 'द्व्येकेषु' ऐसा पद हो जाना था, सारांश भावप्रधान होने से बहुवचन करके द्विवचन ही प्रयोग किया तद्वत् कारिकागत पद में भी 'भावप्रधान 'त्व' लगाना ही योग्य होगा।

कुतः पुनरविवेकीत्वादेस्सिद्धिर् इत्यतआह–'त्रैगुण्याद्' यद्यत्सुख दुःख मोहात्मकं तत्तद्विवेकित्वादियोगि यथेदमनुभूयमानंव्यक्तम् इति स्फुटत्वादन्वयोनोक्तः, व्यतिरेकमाह 'तद्विपर्ययाभावाद्' अविवेक्यादि विपर्यये पुरुषे त्रैगुण्याभावाद्, अथवा–व्यक्ताव्यक्ते पक्षीकृत्यान्वयाभावे नावीत् एवहेतुः त्रैगुण्याद् इति वक्तव्यः।

अर्थ—अविवेकित्वादि धर्म सिद्ध के लिये मूल में 'त्रैगुण्याद्' यह हेतु दिया गया है, त्रैगुण्यात् का अर्थ=(यदेति) जो २ त्रिगुण=सुख दुःख मोह रूप रहते हैं वे २ अविवेकित्वादि धर्म से युक्त रहते हैं, जैसे अनुभव में आने वाला यह व्यक्त अन्वय व्याप्ति स्पष्ट होने से प्रथम उसी का उल्लेख यहां किया है, इस तरह त्रैगुण्य हेतु द्वारा अविवेकित्वादि धर्मों की सिद्धि होती है, यह बतलाकर अब जहां अविवेकित्वादिकों का अभाव रहता है, ऐसे पुरुष में त्रिगुण का अभाव रहता है, यह व्यतिरेक दृष्टान्त से भी सिद्ध करते हैं,(अथवेति) या व्यक्त व अव्यक्त इनको पक्ष बना करके अन्वय व्याप्ति न मिलने से (अभाव होने से) 'त्रैगुण्याद्' यह अवीत यानी व्यतिरेकी हेतु दिया है ऐसा समझना।

स्यादेतद्–अव्यक्त सिद्धौ सत्यां तस्याविवेकित्वादयो धर्माः सिद्ध्यन्ति अव्यक्तमेवत्वद्यापि न सिध्यति, तत्कथमविवेकित्वादिसिद्धिर् अत आह–'कारणगुणात्मक त्वाद्' इति, अयमभिसन्धिः–कार्य्यं हि कारण गुणात्मकं दृष्टं यथा तन्त्वादि गुणात्मकं पटादिकं,तथा महदादि लक्षणेनापि कार्येण सुख दुःख मोहरूपेण स्वकारणगत सुख दुःख मोहात्मनाभवितव्यं तथा च तत्कारणं सुख दुःख मोहात्मकं प्रधानमव्यक्तंसिद्धं भवति ॥१४॥

अर्थ—अव्यक्त के सिद्ध होने पर तद्गत धर्मों की भी सिद्धि होनी चाहिये और अभी अव्यक्त की सिद्धि नहीं हुई है तो उसके अन्वय से अविवेकित्वादिकों की सिद्धी हो सकती है, यह कैसे ? इस शंका के समाधानार्थ कहते हैं कि (कार्यमिति) कार्य कारण गुण रूप रहता है, ऐसा नियम होने से अव्यक्ति की सिद्धि होती है, (यथेति) जैसे पटादि कार्य तन्तुगत गुणरूपवत् रहता है, वैसे ही महदादि कार्य भी स्वकारणगत सुख, दुःख मोह के योग से सुख, दुख मोह रूप होना ही युक्त है, (तथा) इसी कारण से महदादि कार्यों के सुख दुख मोह रूप अव्यक्त प्रधान संज्ञक कारण सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

स्यादेतद्, व्यक्ताद् व्यक्त मुत्पद्यत इति कणभक्षाक्ष चरण तनयाः, परमाणवोहि व्यक्तास्तैर्द्वणुकादि क्रमेण पृथिव्यादि लक्षणं कार्यं व्यक्त मारभ्यते, पृथिव्यादिषु च कारण गुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः,तस्माद् व्यक्ताद् व्यक्तस्य तद्‌गुणानां चोत्पत्तेः कृतमदृष्टचरेणाव्यक्तेन, इत्यतआह–'भेदानां परिमाणाद्' इत्यादि ।

अर्थ—उक्त विषय में यदि कोई नैयायिक यह आक्षेप करें कि व्यक्त से अव्यक्त की उत्पत्ति होती है, ऐसा कणाद गौतम का मत है,परमाणु व्यक्त होकर द्वणुकादि क्रम से पृथिव्यादि रूप यानी कार्य व्यक्त ही उत्पन्न करते हैं, (पृथिव्येति) पृथ्वी जल इत्यादिकों में कारण गुण के क्रम से ही रूपादिकों की उत्पत्ति होती है, (तस्मादिति) इससे व्यक्त से ही व्यक्त की तथा उनके गुणों की उत्पति होती हुई देखकर कभी भी दृष्टगोचर न होने वाले अव्यक्त की कल्पना करना व्यर्थ है, (इत्यत आह) इस शंका के समाधानार्थ ग्रन्थकर्ता 'भेदानां परिमाणाद्' इत्यादि द्वारा कहते हैं ।

भेदानां परिमाणाद्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च, कारणकार्य विभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य । कारणमस्त्य व्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च, परिणामतः सलिलवत् प्रति प्रति गुणाश्रय विशेषाद् ॥ १५ ॥ १६ ॥

अर्थ—महादादि भेदों का मूल कारण है, यह कैसे ? ऐसा यदि कहें, तो कहता हूं,कि कार्य तथा कारण इसका विभाग प्रतीत होनेसे,नाना रूप कार्यों से

उसका भेद न होने से, भेदों का परिमाण, कारण समन्वय, तथा शक्ति द्वारा प्रवृत्ति होती है,ऐसा देखना। इससे कारण अव्यक्त है और वह तीन गुणोंके योग से समवाय संबन्ध से जलवत् परिणमित होकर तथा एक २ गुण का आश्रय करके रहने वाला जो विशेष उसके द्वारा प्रवृत्ति होता है ॥ १५ ॥ १६ ॥

भेदानां विशेषाणां महदादीनां भूम्यन्तानां कार्याणां कारणं 'मूल कारणम्' अस्त्यव्यक्तं, कुतः 'कारणकार्य विभागादविभागाद्वैश्व रूपस्य' कारणे सत्कार्य मिति स्थितं तथा च यथा कूर्म शरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते 'इदंकूर्मशरीरमेतान्यस्याङ्गानिइति, एवं निविशमानानि तस्मिन्न व्यक्तीभवन्ति एवंकारणान्मृत्पिंडाद् हेमपिंडाद्वा कार्याणि घटामुकुटादीनि सन्त्येवाविर्भवन्ति विभज्यन्ते, सन्त्येव च पृथिव्यादीनि कारणात् तन्मात्रा दाविर्भवंति विभज्यन्ते,सन्त्येवच तन्मात्राण्यहंकारात्कारणात्,सन्नेवाहंकारः कारणान्महतः, सन्नेवच महान् परमाव्यक्तात्। सोयं कारणात्परमा व्यक्तात्साक्षात्पारम्पर्येणान्वितस्य विश्वस्य कार्य्यस्य विभागः।

अर्थ—(भेदानामिति) भेद यानी विशेष महत् अहंकार इनसे लेकर भूमी पर्यन्त जितने कार्य हैं, उन सबको 'भेद' ऐसा कहते हैं, उनका कारण 'मूल कारण' अव्यक्त है, वह दर्शाते हैं, (कारणेति) कारण कार्य विभाग परसे तथा वैश्व रूप के अविभाग पर से कारण में कार्य सत है, यह पहिले सिद्ध हो चुका है, (अथेति) अर्थात् कूर्म के शरीर में विद्यमान रहने वाले ही अंग बाहर आते हैं, तथा बाद उनका ये कूर्म का शरीर यह मुंह, यह पांव इत्यादि भिन्न भिन्न व्यवहार होते हैं, (एवमिति) वैसे ही वे अंग भीतर प्रवेश करने पर उस शरीर में गुप्त होजाते हैं,(एवमिति) तद्वत् कारण जो मृत्पिंड या सोने का गोला इनसे घट, कुण्डल इत्यादि पहिले कारण रूप से सतरूप रहने वाले ही कार्य व्यक्त होते हैं, पश्चात् उनका प्रथक २ नाम रूप भेद व्यवहार होता है, (सन्त्येवेति) इसी न्यायवत् पहिले सद्रूपस्थ ही पृथिव्यादि तत्व तन्मात्रा रूप कारण से व्यक्त होते हैं,अनंतर भेद व्यवहार प्रारम्भ होता है।पहले सद्रूप से रहने वाली ही तन्मात्रायें अहंकार के सकाश से उत्पन्न होती हैं, तथा सद्रूप महत्तत्व परम अव्यक्त के सकाश से निर्माण होताहै, (सोयमिति) सारांश परं

परा से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले इन सब विश्व रूप कार्यों का विभाग होता है।

प्रतिसर्गेतु मृत्पिण्डं सुवर्णपिण्डं वा घटमुकुटादयोविशन्तोऽव्यक्ती भवन्ति, तत्कारणरूपमेवानभिव्यक्तं कार्यमपेक्षया व्यक्तं भवति, एवं पृथिव्यादयस्तन्मात्राणि विशन्तः स्वापेक्षयातन्मात्राण्यव्यक्तयन्ति, एवं तन्मात्राण्यहंकारं विशन्त्यहंकारमव्यक्तयन्ति, एवमहंकारोमहान्तमाविशन् महान्तमव्यक्तयति, महान् प्रकृतिंस्वकारणमाविशन् प्रकृतिमव्यक्तयति, प्रकृतेस्तुनकचिन्निवेश इति सा सर्वकार्याणामव्यक्तमेव, सोयमविभागः प्रकृतौवैश्वरूप्यस्य नानारूपस्यकार्यस्य, 'स्वार्थिकःष्यञ्' तस्मात् कारणे कार्यस्य सत एवविभागाविभागाभ्यामव्यक्तं कारणमस्ति।

अर्थ--(प्रतिसर्गेति) प्रत्येक कल्पान्त के समय जैसे मिट्टी के या सोने के गोले में घट, मुकुट, इत्यादि कार्य प्रवेश करने पर वे अव्यक्त होते हैं, तथा इस तरह का कारणरूप ही व्यक्त न हुये कार्य की अपेक्षा से अव्यक्त है, (एवमिति) वैसे ही पृथिव्यादि तन्मात्राओं में प्रवेश करने पर अपनी अपेक्षा से तन्मात्राओं को अव्यक्त करते हैं, तद्वत् (तन्मात्रेति) अहंकार में प्रवेश करने वाली तन्मात्राएं अहंकार को अव्यक्त करती हैं, वैसे ही (अहंकारेति) अहंकार महत् तत्व में प्रवेश करने पर महत्तत्व को अव्यक्त करता है, (महानिति) वैसे ही महत् तत्व अपना मूल कारण जो प्रकृति उसमें प्रवेश करने पर प्रकृति को अव्यक्त करता है। और प्रकृति का तो प्रवेश कहीं पर भी नहीं होता। (सेति) इसीसे वह सब कार्यों का अव्यक्त (मूलकारण) है। इसी प्रकृति में नानरूप ऐसे कार्यों का विभाग है, मूल कारिका में "वैश्वरूप्य" ऐसा जो पद है उसी का नाम नानारूप ऐसा अर्थ है। मूलशब्द 'विश्वरूप' ऐसा है, उसको 'स्वार्थेष्यञ्' प्रत्ययलगाकर "वैश्वरूप्य" ऐसा शब्द सिद्ध किया है,(तस्मादिति) इसी से कारण में रहने वाले सद्रूप से कार्य के विभाग तथा अविभागद्वारा सिद्ध होने वाला अव्यक्त कारण है यह सिद्ध हुआ।

इतश्चाव्यक्तमस्ति, इत्याह—"शक्तितःप्रवृत्तेश्च" कारणशक्तितः कार्यं प्रवर्तत इति सिद्धम्, अशक्तात्कारणात्कार्यस्यानुत्पत्तेः शक्तिश्चकारण

गता न कार्यस्यव्यक्तत्वादन्या, न हि सत्कार्यपक्षे कार्यस्याव्यक्तताया अन्यस्यांशक्तौप्रमाणमस्ति, अयमेव हि सिकताभ्यस्तिलानां तैलोपादानानांभेदो यदेतेष्वेवतैलमनागतावस्थंनसिकतास्विति।

अर्थ--कारण अव्यक्त है, इसको "शक्तितः प्रवृत्तेश्च" यह और भी एक हेतु दिया है, (कारणेति) कारण की शक्ति से कार्य प्रवृत्त होता है। यह बात पहले ही निश्चय हो चुकी है, (अशक्तादिति) कारण शक्ति रहित कारण द्वारा कार्य की कभी भी उत्पत्ति नहीं होती यह सबका अनुभव है, (शक्तिश्चेति) कारणगत शक्ति कार्य के अव्यक्तता से पृथक है ऐसा नहीं है। अर्थात् कारण शक्ति यही कार्य की अव्यक्तता है, (नहीति) क्योंकि कार्य सत है इस पक्ष में कार्य के अव्यक्तता से प्रथक शक्ति मानने के लिये कोई प्रमाण ही नहीं है, (अयमेवेति) तेल का उपादान कारण जो तिल उस तिल का जो बालू से भेद है सो यही है कि तिल्ली से आगे प्राप्त होने वाला तेल है परन्तु बालू में वह नहीं है।

स्यादेतत्शक्तितः प्रवृत्तिः कारणकार्य विभागाविभागौ च महत् एव परमाव्यक्तत्वंसाधयिष्यतः कृतं ततः परेणाव्यक्तेन, इत्यतआह—"परिमाणाद्" इति।

अर्थ--अब यदि कोई यह शंका करे कि–कारण शक्ति से कार्यकी होने वाली प्रवृत्ति तथा कार्यकारण विभागाविभाग ये तो महत्तत्व के सकाश से होते हैं, इससे वही परम अव्यक्त है ऐसाही वे दोनों उक्त हेतु सिद्ध करते हैं, तो फिर उससे (महत्) प्रथक् प्रकृति संज्ञक परम अव्यक्त की कल्पना करना व्यर्थ है, इसके समाधानार्थ कारिका में "परिमाणाद्" यह हेतु दिया है।

परिमितत्वाद्–अव्यापित्वादितियावद्, विवादाध्यासिनो महदादिभेदा अव्यक्त कारणवन्तः परिमित त्वाद्घटादिवद्, घटादयोहि परिमिता मृदाद्यव्यक्तकारणकादृष्टाः, उक्तमेतद् यथाकार्यस्याव्यक्तावस्था कारणमेवेति। यन्महतःकारणंतत्परमाव्यक्तं, ततःपरतराऽव्यक्तकल्पनायाम्प्रमाणाभावाद्,

अर्थ–परिमाणाद् याने परिमित या अव्यापि होने से (विवादेति) जिनके

विषय में वाद चला है, ऐसे जो महत्तत्वादि भेद अव्यक्त कारण वाले हैं अर्थात् अव्यक्त उनका कारण है, क्योंकि वे परिमित हैं जैसे घटादिक (घटादयो हीति) परिमिति (परिच्छिन्न) पदार्थ मृदादि अव्यक्त कारण वाले हैं, ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं, कार्य को जो अव्यक्तावस्था है वही उसका कारण है यह पहिले ही कह आये हैं, घट रूप कार्य की अव्यक्तावस्था मृत्तिका है, यह जगद्विख्यात है, अस्तु, इस अनुमान में महदादि भेद यह पक्ष है, अव्यक्त कारण वाले हैं, यह साध्य विना हैं, यह हेतु, तथा घट वत् यह दृष्टान्त है, (यन्महतः) सब भेदों में अखीरी का भेद जो महान उसका कारण परम अव्यक्त है, तथा उसके परे भी और कोई एकाधअव्यक्त है ऐसी कल्पना करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है ।

इतश्च–विवादाध्यासिताभेदाअव्यक्तकारणवन्तःसमन्वयाद्, भिन्नानांसमानरूपतासमन्वयः, सुखदुःखमोहसमन्विताहिबुद्ध्यादयोऽध्यवसायादिलक्षणाः प्रतीयन्ते, यानिचयद्रूपसमनुगतानि तानि तत्स्वभावाऽव्यक्तकारणकानि यथा मृदहेमपिण्डसमनुगताघटमुकुटादयो मृद्हेमपिण्डाव्यक्तकारणकाः इतिकारणमस्त्यव्यक्तं भेदानामितिसिद्धम् ।

अर्थ—ये वाद ग्रस्त भेद अव्यक्त कारण वाले हैं,इस विषय में 'समन्वयात' यह और भी एक हेतु है, (भिन्नानामिति) प्रथक २ वस्तु की एक रूपता यही समन्वय है, (सुखदुःखेति) यह समन्वय महत्तत्वादि सब पदार्थों में दृग्गोचर होने से वे अव्यक्त कारण वाले हैं, यह सिद्ध होता है, बुद्ध्यादि पदार्थ सुखदुःख मोह रूप दिखाई पड़ते हैं, जो तत्व जिस रूप से युक्त रहता है, उसका उसी रूप का स्वभाव अव्यक्त कारण रहता है ऐसा नियम है । (यथेति) जैसे मिट्टी व सुवर्ण इनके गोले से सम्बद्धित घट, मुकुट इत्यादि कार्यों की मिट्टी सुवर्ण इत्यादिकों का पिण्ड रूप ही अव्यक्त कारण रहता है, सारांश इस सब विवेचन पर से महत्तत्वादि भेदों का कारण अव्यक्त है, यह सिद्ध हुआ ।

अव्यक्तंसाधयित्वाऽस्यप्रवृत्तिप्रकारमाह–"प्रवर्ततेत्रिगुणात" इति, प्रतिसर्गावस्थायां सत्वंरजस्तमश्चसदृशपरिणामानिभवन्ति, परिणामस्व-

भावाहि गुणानाऽपरिणम्यक्षणमप्यवतिष्ठन्ते,तस्मात्सत्वंसत्वरूपतया, रजो रजोरूपतया, तमस्तमोरूपतयाप्रतिसर्गावस्थायामपिप्रवर्तते,तदिदमुक्तं "त्रिगुणत" इति,

अर्थ—अव्यक्त की सिद्धि करके अब उसके प्रवृत्ति का प्रकार वतलाते हैं अर्थात् कार्य रूप से उसका परिणाम कैसे होता है, सो दिखाते हैं, "प्रवर्तते त्रिगुणतः" (प्रतीति) सृष्टि के आरंम्भ काल के पूर्व सत्व, रज, तथा तम ये तीन गुण समान प्रमाण में रहते हैं परन्तु परिणाम को प्राप्त होना यह उनका स्वभाव होने से वे परिणाम को प्राप्त हुये विना एक क्षण मात्र भी नहीं रह सकते, (तस्मादिति) इससे सत्व गुण सत्व रूप से, रजोगुण रजोरूप से तथा तमोगुण तमोरूप से प्रत्येक सृष्टि के समय प्रवृत होते हैं,इसीसे इस कारिका में अव्यक्त, त्रिगुण के द्वारा प्रवृत होता है ऐसा कहा है ।

प्रवृत्यन्तरमाह–"समुदयाच्च" इति, समेत्योदयः समुदायः–समवायः, समुदयश्चगुणानां न गुण प्रधानभावमन्तरेण संभवति, नच गुण प्रधान भावो वैषम्यं बिना, नच वैषम्यमुपमर्द्योपमर्दकभावादृत्ते, इति महदादि भावेन प्रवृत्ति द्वितीया ।

अर्थ–प्रवृत्ति–समुदायसे भी होतीहै,मिलकर उदय होना इसको समुदाय कहते हैं वा समवाय भी उसी को कहते हैं, (समुदयाच्चेति) परन्तु वह समवाय गुणों के.गुण, प्रधान के बिना होना सम्भव नहीं है, (नचेति) तथा वह गुण प्रधानभाव गुणों के वैषम्य यानी न्यूनाधिकता के बिना नहीं होता । (नचेति) और गुणों में विषमता आने के लिये उपमर्द्य उपमर्द भाव यानी वाध्य वाधक भाव की आवश्यकता है ही अर्थात् सत्वादिगुणों में से कुछ गुण वाध्य होने वाले तथा कुछ बाधा करने वाले हुये बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है । (इति महदादिति) इस तरह महदादि भाव से होने वाले जो प्रवृत्त वह दूसरी प्रवृत्ति हैं ।

स्यादेतत्, कथमेकरूपाणांगुणानामनेकरूपाप्रवृत्तिर्, इत्यतआह— "परिणामतः सलिलवत्" इति । यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेल तालतालीविल्वचिरविल्व तिन्दुकाऽऽमल

कप्राचीनामलककपित्थादिफलरसतयापरिणमद् मधुराम्ललवणतिक्तकषाय कटुतयाविकल्प्यत एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानगुणानाश्रित्याप्रधान गुणाः परिणामभेदान्प्रवर्तयन्ति, तदिदमुक्तं—"प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् एकैकगुणाश्रयेण यो विशेषस्तस्मादित्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥

अर्थ—(कथमिति) परन्तु एक रूप से स्थित गुणों की यह अनेक रूप प्रवृत्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर ग्रन्थकार इस तरह देते हैं कि (यथेति) जैसे मेघ से वृष्टिरूप पृथ्वी पर गिरा हुआ जल यद्यपि एक सरीखा ही रहता है अर्थात् उसमें कुछ भेद नहीं रहता तथापि उस जलका भूमि के नानाविकारों से सम्बध होने पर वही जल अनेक परिणामको प्राप्त होता है,(नारिकेलेति) जैसे—नारियल, ताड़, करेले, बेल, करंज, मिर्च, इमली, आंवला, कबीठ इत्यादिकों का रस बनकर वह जल मधुर, खट्टा, कटु, कषाय, तिक्तादि रूप में परिणमित होता है, (एवमिति) तद्वत् प्रत्येक काल में एक ही एक गुण का उद्भव होने से उस प्रधान गुण का आश्रय करके अप्रधान गुण अनेक परिणाम को प्राप्त करते हैं और ऐसा है तभी "प्रति प्रति गुणाश्रय विशेषात्" ऐसा कारिका में कहा है, इसका अर्थ यह है कि एक २ गुण का आश्रय करने से जो एक विशेष होता है उसी के योग से यह सब विचित्र प्रवृत्ति होती है। ॥ १५ ॥ १६ ॥

ये तु तौष्टिका अव्यक्तं वा महान्तं वाऽहंकारं वेन्द्रियाणि वा भूतानि वाऽऽत्मनमभिमन्यमानास्तानेवोपासते, तान्प्रत्याह—"संघातपरार्थत्वाद्" इत्यादि।

अर्थ—(येत्विति) अब जो कोई स्वल्प संतोषी लोक,अव्यक्त, महत्तत्व अहंकार, इन्द्रियां, पंचमहाभूत इनमें से किसी एक को आत्मामान कर उसीकी उपासना करते हैं उनके मत के निरसनार्थ "संघात परार्थत्वाद्" यह हेतु देकर दर्शाते हैं।

संघातपरार्थत्वाद्, त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽतिभोक्तृभावात्, कैवल्यार्थंप्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—जो-जो संघात हैं वे २ सब दूसरेके लिये हैं,ऐसा नियम होने से त्रिगुणादिकों से विपरीत होने के कारण त्रिगुणादिकों का अधिष्ठाता होना

अवश्य होने से, भोक्तृत्व भाव से तथा कैवल्य के लिये सबकी प्रवृत्ति होती है, इससे पुरुष है ऐसा सिद्ध होता है।

पुरुषोऽस्ति अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्तः, कुतः,सङ्घातपरार्थत्वाद्, अव्यक्त महदहङ्कारादयः परार्थाः,सङ्घातत्वाच्छयना सनाऽभ्यङ्गादिवत्, सुख दुःख मोहात्मक तथा या अव्यक्तादयः सर्वे सङ्घाताः,

अर्थ—अव्यक्तादिकों से प्रथक पुरुष है,क्योंकि जो २ समुदाय रहता है। वह २ किसी दूसरे के लिये रहता है ऐसा नियम है, अव्यक्त, महत्, अहंकार इत्यादि सब अन्य के उपयोग के लिये हैं, क्योंकि वे संघात (समुदाय) हैं, शयन, आसन, अभ्यंगादिवत्, (सुखेति) सुखदुःख मोहरूप होने से सब अव्यक्तादि तत्व संघात हैं।

स्यादेतद् शयनासनादयः संङ्घाताः संहतशरीरार्थाः दृष्टा नत्वा त्मान मव्यक्ता द्व्यतिरिक्तं प्रतिपरार्थाः तस्मात् सङ्घातान्तरमेवपरंगमये युर्न त्वसंहत मात्मानम्, इत्यत आह "त्रिगुणादि विपर्ययाद्" इति,

अर्थ—परन्तु उक्त सिद्धान्त के विषय में यह कहे कि (शयनेति) शयन आसन, इत्यादि जो सङ्घात हैं वे संङ्घात रूप ही हैं। जो शरीरादि पदार्थ उनके उपयोग के लिये है ऐसा देखने में आता है, (नेति) व्यक्त व अव्यक्त इनसे प्रथक रहने वाले आत्मा के उद्देश्य से हैं ऐसा कहीं देखने में नहीं आता, (तस्मादिति) अर्थात् वे संघात है इससे वे दूसरे सङ्घात ही को सूचित करते हैं। संङ्घात रहित आत्मा को सूचित नहीं कराते ऐसा कहना पड़ता है। इसी शंका के समाधानार्थ कारिका में "त्रिगुणादि विपर्ययाद्" ऐसा कहा है।

अयमभिप्रायः—संघातान्तरार्थत्वेहि तस्यापिसंघातत्वात् तेनापि संघातान्तरार्थेन भवितव्यम्, एवं तेनतेनेत्यनवस्थास्याद्, न च व्यवस्थायां सत्यामनवस्थायुक्ता, कल्पनागौरवप्रसंगाद्, न च प्रमाणवत्वेनकल्पना गौरवमपिमृष्यत इति युक्तं, संहतत्वस्यपारार्थ्यमात्रेणान्वयाद्, दृष्टान्तदृष्ट सर्वधर्मानुरोधेनत्वनुमानमिच्छतः सर्वानुमानोच्छेदप्रसंगः इत्युपपादित न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः।

अर्थ—एक संघात दूसरे के लिये है ऐसा कहने से, दूसरा भी संघात

तीसरे के लिये है तीसरा चौथे के लिये है इस तरह से अन्य २ संघात की कल्पना करनी पड़ेगी तथा उससे अनवस्था दोष आवेगा, (नचेति) अन्य प्रकार से व्यवस्था होते हुये अनवस्था कल्पना करना योग्य नहीं, क्योंकि वैसा करने से गौरव दोष आता है, (न च प्रमाणवत्वेति) जो बात प्रमाणभूत है, उसके विषय में यदि कल्पना गौरव भी आजाये, तो हमको मान्य है, ऐसा कहोगे तो यह ठीक नहीं है, (संहतत्वस्येति) क्यों कि संघातत्व यह जो धर्म है उसका केवल पारार्थ्य से ही अन्वय हुआ करता हैं, पारार्थ्य का अर्थ–दूसरे के लिये होना,यही है स्वभाव जिसका वही पारार्थ्य है,(दृष्टान्तेति) शयनादि संघात अन्य के लिये रहते हैं ऐसा जो दृष्टान्त ऊपर दिया गया है। वह संघात परार्थ रहता है इतना ही बतलाने के लिये दिया गया है, तो शयनादि संघात शरीरादि संघात के लिये रहता है अतएव सब संघात दूसरे संघात के लिये ही हैं ऐसा उस (दृष्टान्त) पर से नहीं कह सकते, क्योंकि दृष्टान्तान्तर्गत दृश्यसर्वधर्मानुरोध से ही अनुमान हो, ऐसी इच्छा दर्शित करने पर सब अनुमान ही का उच्छेद होने का प्रसंग आवेगा, यह हमने अपने न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में बतलाया ही है।

तस्मादनवस्थाभियास्यासंघातत्वमिच्छताऽत्रिगुणत्वमविवेकित्वम-विषयत्वमसामान्यत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वंचाभ्युपेयं, त्रिगुणत्वादयोहि धर्माःसंहतत्वेनव्याप्ताः तत्संहतत्वमस्मिन् परेऽव्यावर्तमानं त्रैगुण्यादिव्या-वर्तयति, ब्राह्मणत्वमिव व्यावर्तमानंकठत्वादिकं, तस्मादाचार्येण "त्रिगु-णादिविपर्ययाद्" इति वदताऽसंहतः परोविवक्षितः, सचात्मेति सिद्धम्।

अर्थ—उस अनवस्था के भयसे संघातका आश्रय असंघात होगा, ऐसी इच्छा करने वाले विद्वानों को उस आत्मा का अत्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषय रहितत्व, असामान्यत्व, चेतनत्व, प्रसवधर्मरहितत्व ही मानना चाहिये, क्योंकि (त्रिगुणत्वेति) त्रिगुणत्वादि धर्मसंघातत्वसे व्याप्त हैं अर्थात जहां २त्रिगुणत्वादि धर्म हैं वहां २ सङ्घात है, ऐसी इनकी व्याप्ति है,(तदिति)इससे इस पर तत्व के ऊपर का संघातत्व निवृत्ति होने लगा कि वह अपने साथ त्रिगुणत्वादिकी भी व्यावृत्ति करता है,(ब्राह्मणत्वेति) जैसे किसी एक पुरुषका ब्राह्मणत्व निवृत्त

होने लगा कि वह कठत्वाद की भी निवृत्ति करता है,उसी तरह; इसका सारांश यह है कि अमुक मनुष्य ब्राह्मण होगा, ऐसी शंका आने पर उसके कठादि शाखा तथा गोत्र का भी बिचार करने लगते हैं, क्योंकि गोत्र शाखा आदि ब्राह्मणत्वसे साहचर्य सम्बन्ध रखने वाले धर्म हैं,परन्तु पूछने पर वह ब्राह्मण न होकर शूद्र निकला, यह समझते ही उसके ब्राह्मणत्वके निवृत्तिके साथ ही साथ शाखा गोत्रादि की भी निवृत्ति स्वयं ही हो जाती है, उसी तरह संघात के आश्रय पर संघात नहीं है, यह समझने के साथ उसके त्रैगुण्यादि धर्मों की तथा इतर धर्मों की भी निवृत्ति स्वयं हो जाती है. (तस्मादिति) इतनी ही बात के लिये 'त्रिगुणादि विपर्ययाद्' ऐसा कहने वाले हमारे सांख्याचार्य को वहां पर असंहत यानी असंघात रूप ऐसा ही विवक्षित है, तथा वही आता है, यह सिद्ध हुआ।

इतश्चपरः पुरुषोस्ति 'अधिष्ठानात्'=त्रिगुणात्मकानामधिष्ठीयमानत्वाद्, यद्यत्सुख दुःखमोहात्मकं तत्सर्वं परेणाधिष्ठीयमानं दृष्टं, यथा रथादियन्त्रादिभिः, सुखदुःखमोहात्मकं चेदं बुद्ध्यादि तस्मादेतदधि परेणाधिष्ठातव्यं, स च परस्त्रैगुण्यादन्यआत्मेति।

त्रिगुणात्मक पदार्थ का कोई तो अधिष्ठान अवश्य रहता है,(यदिति) क्योंकि जो २ सुख दुःख मोहात्मक रहता है, वह २ किसी दूसरे से अधिष्ठित अवश्य रहता है ऐसा अनुभव है, (यथेति) जैसे रथादि पदार्थ–सारथी–रथी इत्यादिकों से अधिष्ठित रहता है, (सुखेति) बुद्ध्यादि सब तत्व समुदाय सुख मोहात्मक हैं, (तस्मादिति) इससे इनका भी कोई दूसरा अधिष्ठाता होना चाहिये, (सेति) और वह पर, त्रैगुण्यादिकों से प्रथक ऐसा आत्मा ही है।

इतश्चास्तिपुरुषः–'भोक्तृभावाद्' भोक्तृभावेन भोग्ये सुखदुःखे अनुकूल उपलक्षयति, भोग्येहि सुखदुःखे प्रतिकूलवेदनीये प्रत्यात्ममनुभूयेते, तेनानयोरनुकूलनीयेन च प्रतिकूलनीयेन च केनचि दप्यन्येन भवितव्यं न चानुकूलनीयाः प्रतिकूलनीया वा बुद्ध्यादयः, तेषां सुख दुःखात्मकत्वेन स्वात्मनि वृत्तिविरोधात, तस्माद् योऽसुखाद्यात्मा सोऽनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयोवा, सचात्मेति।

अर्थ—भोक्ता-इस भाव पर से भी आत्मा है ऐसी सिद्धि होतीहै, क्योंकि भोक्ता इस भाव से भोग्य जो सुख दुःखादि उनका ज्ञान होता है, वह कैसे होता है, यह देखना चाहिये, (भोग्येहीत) जिसके विषय में अनुकूल भावना होती है। वह सुख और जिसके विषय में प्रतिकूल भावना होती है वह दुःख, ऐसी ये दोनों भावना प्रत्येक आत्मा को अनुभवित करना पड़ता है और अनुभव का विषय में होना यही भोग्य होना है, (तेनेति) तब इन दोनों को अनुकूल व प्रतिकूल कर लेने के लिये ऐसा कोई दूसरा तो अवश्य ही होना चाहिये, क्योंकि अनुकूल या प्रतिकूल होने वाला अपने से भिन्न रहता है, यह प्रसिद्ध ही है, (नेति) अब यदि सुख दुःखोंको अनुकूल या प्रतिकूल करनेमें बुद्ध्यादि तत्व योग्य हैं, ऐसा कहें तो वह ठीक नहीं होता। (तेषामिति) क्योंकि बुद्ध्यादि तत्व स्वयं सुख दुःखादि रूप होने से वे अपने ही अनुकूल या प्रतिकूल नहीं हो सकते, अड़चन यह है कि अपना ही स्वयं आप विषय होना यह अनुभव विरुद्ध बात है, तस्मात् जो सुख दुःखादि रूप नहीं है, वही अनुकूल प्रतिकूलनीय है तथा वही आत्मा भी है।

अन्येत्वाहुः-भोग्याः=दृश्याबुद्ध्यादयः,न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यता युक्तातेषां, तस्मादस्ति द्रष्टादृश्य बुद्ध्याद्यतिरिक्तः, सचात्मेति।

अर्थ—इस विषय में किसी २ का कहना है कि बुद्ध्यादि पदार्थ भोग्य यानी भोग का विषय है, दृश्य (ज्ञान का विषय) है, (नेति) परन्तु द्रष्टा के बिना उनकी दृश्यता सिद्ध नहीं होती, इससे बुद्ध्यादिकों से द्रष्टा भिन्न है और यही आत्मा है।

भोक्तृभावाद्=द्रष्टृभावाद्, दृश्यत्वेनद्रष्टुरनुमानादित्यर्थः, दृश्यत्वं च बुद्ध्यादीनां सुखाद्यात्मकतयापृथिव्यादिवदनुमितम्।

अर्थ—भोक्तृभावात्-इस शब्द का यह अर्थ दृश्य पदार्थ से द्रष्टा का अनुमान होना ऐसा जानना, (दृश्यत्वं) अब बुद्ध्यादि पदार्थों का दृश्यत्व कैसे सिद्ध होता है यह पूछोगे तो बुद्ध्यादि दृश्य हैं' सुखादिरूप होने से 'पृथ्वी जलादिवत्' इस अनुमान से यह हमारा कहना है।

इतश्चास्तिपुरुषइत्याह—"कैवल्यार्थंप्रवृत्तेश्च" शास्त्राणां महर्षी

णांचदिव्यलोचनानां, कैवल्यचात्यन्तिकदुःखत्रयप्रशमलक्षणंनबुद्ध्यादीनां संभवति, तेहिदुःखाद्यात्मकाः कथं हि स्वभावाद्वियोजयितुं शक्यन्ते, तदति रिक्तस्यत्वतदात्मनस्ततोवियोगःशक्यसम्पादः, तस्मात्कैवल्यार्थं प्रवृत्तेराग-मानांमहाधियांचास्ति बुद्ध्यादिव्यतिरिक्त आत्मेतिसिद्धम् ॥ १७ ॥

अर्थ—पुरुष है, इसकी सिद्धि के लिये एक हेतु और भी "कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च" यह दिया है, (शास्त्राणामिति) शास्त्र तथा दिव्यदृष्टि महर्षि इनकी कैवल्यार्थ (निरुपाधिक दुःखादि रहित अवस्था के लिए) ही प्रवृत्ति हुई है ऐसा देख पड़ता है, कैवल्य का शास्त्रसम्मत अर्थ यह है कि त्रिविधदुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति, (नेति) इस तरह का कैवल्य बुद्ध्यादिकों के प्रति असं-भवनीय है, (तेहीति) क्यों कि वे तत्व दुःखात्मक हैं, यानी दुःख यही उनका स्वरूप या स्वभाव है। (कथमिति) तब उनका वह स्वभाव कैसे नष्ट हो सकता है, इससे सुखदुःखादि स्वरूप रहित आत्माकोदुःखादिकों से वियोग कराना शक्य है। इसी कारण महर्षि तथा शास्त्रों की प्रवृत्ति कैवल्यार्थ होने के कारण बुद्ध्यादि सुखदुःखरूप तत्वों से आत्मा प्रथक है यह सिद्ध हुआ ॥१७॥

तदेवंपुरुषास्तित्वंप्रतिपाद्य स किं सर्वशरीरेष्वेकः किमनेकःप्रतिक्षेत्र मितिसंशयेतस्य प्रतिक्षेत्रमनेकत्वमुपपादयति—"जन्ममरणकरणानाम्" इत्यादिना।

अर्थ—इस तरह पुरुष का अस्तित्व प्रतिपादन करके वह पुरुष सब शरीर में एक ही है या प्रत्येक शरीर में प्रथक २ है, ऐसा संशय होने पर वह प्रत्येक शरीर में भिन्न २ है, ऐसा "जन्ममरणकरणानाम्" कारिका से सिद्ध करते हैं।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमाद्, अयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

अर्थ—जन्म मरण तथा इंद्रियां इनकी योग्य स्थिती होने से, सब शरीरों की एक समय प्रवृत्ति होने के कारण, तथा प्रत्येक शरीर में त्रिगुण की विपरीतता होने के कारण पुरुष अनेक है ऐसा सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

पुरुषबहुत्वंसिद्धं कस्माद्, जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमाद्,निकाय

विशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म, नतुपुरुषस्यपरिणामः, तस्यापरिणामित्वात्, तेषामेव च देहादीना-मुपात्तानांपरित्यागोमरणं, नत्वात्मनोविनाशः, तस्यकूटस्थनित्यत्वात्, करणानि=बुद्ध्यादीनि त्रयोदश, तेषांजन्ममरणकरणानां प्रतिनियमः=व्य-वस्था, साखल्वियंसर्वशरीरेष्वेकस्मिन्पुरुषेनोपपद्यते।

अर्थ—पुरुष का अनेकत्व तीन कारणों से सिद्ध होता है। वे कौन से कारण हैं? जन्म, मरण तथा इन्द्रियों का प्रतिनियम, (निकायेति) समुदाय युक्त तथा अपूर्व ऐसी देह, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार तथा वेदना इन सब से पुरुष का सम्बन्ध होना इसी को जन्म कहते हैं, क्यों कि पुरुष अपरिणामी होने से उसके परिणाम को जन्म ऐसा नहीं कह सकते, (तेषामिति) बादमें स्वीकारित देहादिकों का त्याग करना इसी को मरण कहते हैं, क्योंकि अविक्रय तथा नित्य आत्मा का विनाश होना अशक्य है (कारणानीति) बुद्धि, अहंकार मन, श्रोतादि पञ्चज्ञानेन्द्रिय, तथा वागादि पञ्चकर्मेन्द्रिय ये तेरह करण है। (तेषामिति) ऐसा ये जन्म मरण करण का जो प्रति नियम व्यवस्था है सो सब शरीर में आत्मा एक है, ऐसा कहने से ठीक नहीं मिलता, (सेति) क्योंकि सब शरीर में आत्मा एक है ऐसा प्रतिपादन करने पर (तदेति) एकका जन्म होते ही सबका जन्म होगा।

तदाखल्वेकस्मिन् पुरुषेजायमाने सर्वेजायेरन्, म्रियमाणे च म्रियरेन् अन्धादौचैकस्मिन् सर्वएवान्धादयः, विचित्तेचैकस्मिन् सर्वएवविचित्ताः स्युरित्य व्यवस्था स्यात्, प्रतिक्षेत्रं तु पुरुषभेदे भवति व्यवस्था।

अर्थ—(तदेति) क्योंकि सब शरीरों में आत्मा का एकत्व मानने से एक के पैदा (जन्म) होते ही सबका जन्म हो जावेगा और एक के मरने से सब मरण को प्राप्त हो जावेंगे, वैसे ही एक अंधा होने से सब अंध हुआ करेंगे, (विचित्तेति) एक के सोने से सब विचित्त अर्थात् निद्रावश होवेंगे, सारांश आत्मा के एकत्व मानने में ऐसी अव्यवस्था होगी, (प्रतिक्षेत्रमिति) और प्रति शरीर में आत्मा (पुरुष) प्रथक २ मानने में हमारे मत से उक्त अवस्था न होगी।

नचैकस्यापि पुरुषस्य देहोपाधानभेदाद् व्यवस्था इतियुक्तं पाणिस्त-नाद्युपाधिभेदेनापि जन्ममरणादि व्यवस्थाप्रसंगाद् न हिपाणौवृक्णे, जाते-वा स्तनादौ महत्यवयवेयुवतिर्मृता, जाता वा भवतीति, इतश्चप्रतिक्षेत्रं पुरुषभेद इत्याह—

अर्थ—(नेति) अब अंधत्वादि इंद्रिय धर्म होनेसे तथा जन्म मरणादि देह धर्म होने से और देह, इंद्रियादिकों का प्रत्येक प्राणी के प्रति भेद होने के कारण यद्यपि पुरुष एक है, तथापि उपाधि भेद से जन्म मरणादि व्यवस्था हो सकती है, ऐसा आक्षेप कोई करेंगे, परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि वैसा मान लेने से (पाणिरिति) हाथ, पांव, स्तनादि उपाधि के द्वारा भी जन्म मरणादि व्यवस्था होनेका प्रसंग प्राप्त होगा, (नहिपाणाविति) कारण हाथ टूट जाने पर या जोड़ देने पर यह पुरुष मर गया है, या किसी तरुणी के स्तनादि अवयव प्राप्त होने पर यह पैदा हुई है, ऐसा कुछ नहीं होता, इससे प्रति शरीर में आत्माभिन्न है, ऐसा ही मानना ठीक है, (इतश्चेति) एक ही काल में सब शरीर की प्रवृत्ति न होने पर भी प्रति शरीर में आत्मा भिन्न है, यह सिद्ध होता है।

"अयुगपत्प्रवृत्तेश्च" प्रवृत्तिश्चप्रयत्न लक्षणा यद्यप्यन्तः करणवर्तिनी तथापि पुरुष उपचर्यते,तथा च तस्मिन्नेकत्रशरीरे प्रयतमाने सएवसर्वशरीरे ष्वेकइतिसर्वत्र प्रयतेत,ततश्चसर्वाण्येव शरीराणि युगपच्चालयेत् नानात्वेतु नायंदोषइति।

अर्थ—इस तरह 'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च' प्रवृत्ति यानी प्रयत्न यह यद्यपि अंतः करणवर्ती है तथापि उसका पुरुष के प्रति उपचार करते हैं, (तथेति) और जिसके प्रति प्रयत्न का आरोप किया है, ऐसा पुरुष एक शरीर में प्रयत्न करने लगा कि वह सब शरीर में एक ही होने से उसकी प्रवृत्ति सर्वत्र चालू हो जावेगी, तथा वैसा होने से वह पुरुष सब शरीरों को एक साथ एक ही समय में चलावेगा, ऐसा कहने का प्रसंग आता है, (नानात्वे) परन्तु वही आत्मा प्रति शरीर में प्रथक २ मानने से उक्त प्रसंग प्राप्त नहीं होता।

इतश्चपुरुषभेद इत्याह-"त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव-एवकारो भिन्नक्रमः

सिद्धम् इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, सिद्धमेवनासिद्धं, त्रयोगुणास्त्रैगुण्यं, तस्य विपर्यय=अन्यथात्वं–केचितखलुसत्व निकायाःसत्ववहुला यथोद्ध्वंश्रोतसः, केचित्रजोवहुलाः यथामनुष्याः, केचित्तमोबहुला यथातिर्यग्योनयः, सोयमीदृशस्त्रैगुण्यविपर्ययः=अन्यथाभावः तेषुसत्वनिकायेषु न भवेद्यद्येकः पुरुषःस्याद्, भेदेत्वयमदोषइति।

अर्थ—पुरुष के भिन्नत्व प्रतिपादन में 'त्रैगुण्यविपर्यय' यह भी एक हेतु है, यहां 'एव' ऐसा जो शब्द है, उसका 'सिद्धं' इस पद के साथ अन्वय लगाना, अर्थात् पुरुष अनेक हैं, यह सिद्ध हुआ इसमें संशय नहीं, ऐसा अर्थ निष्पन्न होगा। तीनों गुणों को 'त्रैगुण्य' ऐसा कहा है तथा उनका विपर्यय यानी अन्यथाभाव, (केचिदिति) कुछ सात्विक देह वाले होते हैं अर्थात् जिनमें सत्वगुण अधिक प्रमाण से रहता है ऐसे जितेन्द्रिय योगी, या देवादिक, कोई २ रजोगुण वाले जिनमें रजोगुण अधिक होते हैं जैसे मनुष्य, कोई तमोगुण अधिक जैसे पशु, पक्षी इत्यादि तिर्यक् प्राणी, (सोयमिति) यह इस तरह का त्रिगुण का अन्यथाभाव पुरुष यदि सात्विकादि शरीर में एक ही होता तो यह त्रिगुण भेद कभी न होता परन्तु वह(भेद)तो होता है ऐसा प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इससे पुरुष एक है ऐसी कल्पना न करके यह प्रति शरीर में भिन्न–भिन्न है। ऐसी कल्पना करना ही अदोष युक्त है ॥ १८ ॥

एवं पुरुषबहुत्वं प्रसाध्यविवेक ज्ञानोपयोगितया तस्यधर्मानाह—"तस्माच्चविपर्य्यासाद्" इति।

अर्थ—इस तरह से पुरुष अनेक हैं। यह सिद्ध करके अब विवेकज्ञानोपयोगीधर्म "तस्माच्चविपर्य्यासाद्" इस कारिका द्वारा बतलाते हैं।

तस्माच्चविपर्यासाद् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यंमाध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च १९ ॥

अर्थ—उन त्रिगुणादि भावों से यह भिन्न होने से इस पुरुषका साक्षित्व कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व, अकर्तृभाव ये धर्म सिद्ध हुये।

'तस्माच्च' इति च–शब्दःपुरुषस्य बहुत्वेन सहधर्मान्तराणि समुच्चिनोति,विपर्य्या सादस्माद्–इत्युक्तत्रैगुण्यविपर्य्ययाद्–इत्यनन्तरोक्तंसंबध्यते,

अतस्तन्निरासायतस्माद्-इत्युक्तं, अनन्तरोक्तं हि सन्निधानादिदमो विषयो, विप्रकृष्टं च तदइति विप्रकृष्टं 'त्रिगुणमविवेकि' इत्यादिसबध्यते, तस्मात् त्रिगुणादेः यो विपर्यासः सपुरुषस्यात्रिगुणत्वं विवेकित्वमविषयत्वमसाधारणत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वं च ।

अर्थ—इस कारिका के आरम्भ में 'तस्मात्-च' यहां जो चकार है उसका समुच्चय यह अर्थ होने से पुरुष के बहुत्व इस धर्म के साथ ही साथ उसके अन्य धर्मों का अत्रिगुणत्वादिधर्मों का भी समुच्चय करता है और इस कारिका में 'तस्मात्' ऐसा जो कहा है इसके बदले 'अस्मात्' ऐसा जो कहते तो पीछे के कारिका में 'त्रैगुण्यविपर्ययात्' जो कहा है उससे इसका संबन्ध लग जाता क्यों कि 'अस्मात्' यह नजदीक का पदार्थ बतलाने वाला है, व तस्मात्' दूर का पदार्थ बतलाने वाला है, क्योंकि ये दोनों पद क्रम से 'इदम् व तत्' ये सर्वनाम पंचमी के एक बचन के रूप हैं, अर्थात् अस्मात् यानी इससे, तस्मात् यानी तिससे ऐसा अर्थ हुआ, लेकिन यहां तस्मात् यही दूर का पदार्थ बतलाने वाला शब्द होना चाहिये । क्योंकि उसके बिना त्रिगुणमविवेकि' इत्यादि ग्यारहवीं कारिकान्तर्गत विशेषणों से इन शब्दों का अर्थ संबन्ध न लगता, ग्यारहवीं कारिका में कहे गये 'व्यक्त व अव्यक्त' (प्रधान) इनके धर्मों से विपरीत धर्म पुरुष में हैं, (सेति) त्रिगुणरहित, विवेकित्व, विषयशून्य, असाधारणत्व, चेतनत्व, अप्रसवधर्मित्व, ये सब धर्म पुरुष में रहते हैं ।

तत्रचेतनत्वेनाविषयत्वेन च साक्षित्वद्रष्टृत्वेदर्शिते, चेतनो हि द्रष्टा भवति नाचेतनः, साक्षी च दर्शितविषयो भवति, यस्मैप्रदर्श्यतेविषयः स साक्षी, यथा हि लोकेऽर्थिप्रत्यर्थिनौविवाद विषयं साक्षिणेदर्शयत एवं प्रकृतिरपिस्वचरितं विषयं पुरुषायदर्शयतीतिपुरुषः साक्षी, नचाचेतनोविषयो वा शक्योविषयं दर्शयितुमिति चैतन्यादविषयत्वाच्चभवतिसाक्षी, अतएव द्रष्टापि भवति ।

अर्थ—इनमें से चेतनत्व तथा अविषयत्व इनके योग से पुरुष का साक्षित्व तथा द्रष्टृत्व यह व्यक्त होता है, (चेतनोहीति) क्योंकि जो चेतन रहता

है वही द्रष्टा होता, अचेतन द्रष्टा कभी भी नहीं हो सकता,(साक्षीति) जिसको विषय दिखाया जाता है, वही साक्षी होता है या जिसने विषय देखा है वही साक्षी हो सकता है। (यथेति) जैसे लौकिक व्यवहार में भी वादी तथा प्रति वादी विवाद (झगड़े) का विषय साक्षी को दिखाते हैं, (एवमिति) वैसे ही प्रकृति भी अपना स्वचरित्र रूपी विषय पुरुष को दिखाती है, इसीसे वह साक्षी है, (नेति) परन्तु जो निसर्गतः अचेतन है तथा विषय रूप है, उसको विषय कभी नहीं दिखा सकते, इससे चैतन्य यह अविषय रूप होने से साक्षी है, तथा इसीसे वह द्रष्टा भी है।

अत्रैगुण्याच्चास्यकैवल्यम् आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम् तच्चतस्यस्वाभाविकादेवात्रैगुण्यात्=सुखदुःखमोहरहितत्वात्सिद्धम्, अतए-वात्रैगुण्यान्माध्यस्थ्यं, सुखी हि सुखेनतृप्यन् दुःखी हि दुःखं द्विषन् मध्य-स्थोनभवति तदुभयरहितस्तु 'मध्यस्थ' इति, 'उदासीन' इतिचाऽऽख्यायते, विवेकित्वाद् अप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्तेतिसिद्धम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इनमें से अत्रैगुण्यत्व यह धर्म पुरुष में होने से उसका कैवल्य भी सिद्ध होता है, क्योंकि अध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों का अत्यन्त अभाव होना यही कैवल्य है, (तच्चेति) तथा वह तो पुरुष को स्वाभाविक अत्रिगुणत्व होने से व इसी से सुख, दुःख, मोह इनसे तथा इसीसे सुख दुःख मोह इससे रहित होने के कारण सिद्ध होता है, (अतएवेति) और इसी उक्त कथन से पुरुष मध्यस्थ है यहभी सिद्ध हुआ क्योंकि सुखी प्राणि सुखसे तृप्त होता हुआ व दुःखी दुःख का द्वेष करता हुआ मध्यस्थता के अयोग्य ठहरते हैं, (तदुभयेति) परन्तु पुरुष सुख दुःख रहित होनेसे मध्यस्थ या उदासीनहै,यह निःसंशय सिद्ध होता है, (विवेकित्वादिति) वह विवेक तथा अप्रसव धर्मी होने से अकर्तृवान भी सिद्ध होता है, क्योंकि जो कर्ता होता है, वह स्वेष्ट प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, इसी से विवेक रहित और विकारी होता है, यह (पुरुष)तो वैसा नहींहै अतः कर्ता भी नहीं है, यह प्रत्यक्ष ही है।

स्यादेतत्, प्रमाणेन कर्तव्यमर्थ मवगम्यचेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमि इति कृतिचैतन्ययोः समानाधिकरण्यमनुभवसिद्धं, तदेतस्मिन्मतेनावकल्पते

चेतनस्याकर्तृत्वात् कर्तुश्चाचैतन्याद्, इत्यतआह 'तस्मात्तत्संयोगाद्' इत्यादि—

अर्थ—अब यहां पर यह शंका होती है कि कोई भी पुरुष प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा स्वकर्तव्य को जानकर 'मैं चेतन' अर्थात् करने की इच्छा करने वाला तथा कर्ता हूं ऐसा कहता है। इससे कृति (व्यापार, प्रयत्न, चेष्टा)तथा चैतन्य इनका समानाधि करण्य=यानी दोनों धर्मों का आश्रय एक है, यह अनु भव से सिद्ध होता है, (तदेतस्मिन्निति) परन्तु आपके मत से यह बात विरुद्ध है, क्योंकि आपके मत से चेतन कर्तृत्वहीन व जड़ यह कर्ता है, जो कि अविवेक इत्यादि धर्मों से युक्त रहता है, इस शंका के निवारणार्थ ग्रन्थकार ईश्वर कृष्ण मुनि कहते हैं 'तस्मात्तत्संयोगाद्'

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम् ।
गुणकर्तृत्वेपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

अर्थ—तस्मात् उन प्रकृति पुरुष के संयोग से जड़महत्तत्वादि लिंग चेतन के सदृश मालूम होते हैं, तथा तद्वत् उदासीन पुरुष गुणों के कर्तृत्वता के कारण कर्ता की तरह भासित होता है।

यतश्चैतन्यकर्तृत्वेभिन्नाधिकरणे युक्तितःसिद्धे तस्माद्भ्रान्तिरियमित्यर्थः

अर्थ—जिससे चैतन्य व कर्तृत्व इनका अधिकरण प्रथक २ है। ऐसा हमने प्रथम ही युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है, अतः 'तस्मात्' इस पद का अर्थ ऐसा करना कि—"मैं चेतन तथा कर्ता हूं" यह समझना केवल भ्रान्ति है।

भ्रान्तिबीजं तत्संयोगः=तत्सन्निधानम्, लिङ्गं=महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं वक्ष्यति, अतिरोहितार्थमन्यद् ॥ २० ॥

अर्थ—भ्रान्ति होने का मूल बीज (कारण) प्रकृति पुरुष का संयोग है, उनका संयोग होने से महदादिलिंग चैतन्यवत् भासित होते हैं, तथा उदासीन पुरुष कर्ता की तरह भासित होता है और वस्तुतः कर्तृत्व धर्म गुणों का है, (लिंगमिति) महत्तत्व से लेकर सूक्ष्मपर्यन्त जो कार्य समूह है उसका विवरण आगे करेंगे। उसी कार्य समुदाय को लिंग कहते हैं ॥ २० ॥

'तत्संयोगाद्' इत्युक्तं, न च भिन्नयोः संयोगोऽपेक्षांबिना, नचेयमुपकार्योपकारकभावंबिना, इत्यपेक्षाहेतुमुपकारमाह—"पुरुषस्य दर्शनार्थम्" इत्यादि।

अर्थ—'तत्संयोगात्' जिसके संयोग से ऐसा ऊपर बतलाया है (नेति) परन्तु भिन्न २ पदार्थों का संयोग कुछ अपेक्षा हुये बिना नहीं होता तथा उनमें उपकार्योपकारक भाव हुये बिना अपेक्षा नहीं रहती ऐसा नियम है। इसीसे अपेक्षा का हेतु ऐसा जो उपकार वह यहां कैसे है, सो इस कारिका से दिखाते हैं।

पुरुषस्यदर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ २१॥

अर्थ—प्रधानका कार्य पुरुषको देखनेके लिये तथा पुरुषका कार्थ कैवल्य प्राप्त होने के लिये, अंधे लंगड़े मनुष्य के सदृश इन दोनों का भी संयोग होता है। तथा उसी संयोग से सबसृष्टि होती है।

'प्रधानस्य' इतिकर्मणिषष्ठी,प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद्दर्शनंपुरुषेण तदर्थं तदनेन भोग्यताप्रधानस्य दर्शिता,ततश्चभोग्यं प्रधानं भोक्तारमन्तरेण न संभवतीति, युक्तास्यभोक्त्रपेक्षा।

अर्थ—सर्व कारणरूप अपने पुरुष को देखना ऐसी प्रधान की अपेक्षा रहती है। (तदनेनेति) इस वाक्य से प्रधान भोग्य है यह सूचित कराया है। (ततश्चेति) परन्तु भोग्य जो प्रधान है वह भोक्ता बिना नहीं रह सकता ऐसा सिद्धान्त है और जब कि ऐसा है, तो उसको भोक्ता की अपेक्षा होना बिलकुल योग्य ही है।

पुरुषस्यापेक्षांदर्शयति-'पुरुषस्यकैवल्यार्थं'-तथा हि प्रधानेनसम्भिन्नः पुरुषस्तद्गतंदुखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यंप्रार्थयते, तच्चसत्व पुरुषान्यताख्याति निबन्धनं, नचसत्वपुरुषान्यताख्यातिः प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थंपुरुषः प्रधानमपेक्षते।

अर्थ—अब पुरुष को प्रधान की अपेक्षा कैसे रहती है सो दर्शाते हैं—पुरुष को कैवल्य के लिये प्रधानको अपेक्षा रहती है। (प्रधानेनेति)प्रधान में एक

रूपता को प्राप्त हुआ पुरुष प्रधानगत त्रिविध दुःख अपने में ही है ऐसा जानता है। यानी भ्रम से उन दुःखों का भोक्ता मैं ही हूं ऐसा अभिमान करता है तथा उसी से उसको कैवल्य की इच्छा होती है, (तच्चेति) वह कैवल्य प्रकृति व पुरुष से भिन्न है यह जानने से ही प्राप्त होना सम्भव है। (नचेति) परन्तु प्रकृति के स्वरूपका ज्ञान हुये बिना वह पुरुष से भिन्न है ऐसा बिना समझे नहीं समझता है अतः कैवल्य के लिये पुरुष प्रधान की अपेक्षा करता है।

अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगायसंयुक्तोपि कैवल्याय पुनः संयुज्यत इति युक्तं। ननुभवत्वनयोःसंयोगो,महदादिसर्गस्तुकुत,इत्यत आह—"तत्कृतः सर्गः" संयोगो हि न महदादिसर्गमन्तरेण भोगायकैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवर्गार्थं सर्गं करोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अर्थ—प्रधान व पुरुष इनकी संयोग परम्परा अनादि होने से वह भोग के लिये यद्यपि प्रधान के साथ पहले से ही संयुक्त है तथापि कैवल्यार्थ पुनः संयुक्त होता है यह कहना युक्त ही है, (नन्विति) सारांश यह है कि संयोगके हेतु जो अपेक्षा पङ्ग्वन्धवत् है वह प्रधान तथा पुरुष इनमें भी है और इसी से उनका संयोग होता है, जैसे पंगु मनुष्य चलने में असमर्थ व अन्धा देखने में असमर्थ रहता है इसीसे उन दोनों में परस्पर अपेक्षा होना स्वभाव सिद्ध ही है, लंगड़ा अन्धे के कन्धे पर बैठता है व लंगड़ा जैसी प्रेरणा करता है वैसा वो चलता है इस तरह से दोनों का कार्य होता है, इसी न्यायानुसार प्रधान जड़ होने से अन्धा है और पुरुष निष्क्रिय तथा असंग होने से लंगड़ा है इसी कारण दोनों में परस्पर अपेक्षा होती है और बाद उनका संयोग होता है, अब संयोग द्वारा आगे की सृष्टि कैसे होती है सो 'तत्कृतःसर्गः' द्वारा बतलाते हैं कि महत्तत्वादिकों की उत्पत्ति में भी यह प्रधान पुरुष का संयोग ही कारण है, वह इस तरह से (संयोगो हीति) प्रधान पुरुष का संयोग यद्यपि होगया तथापि वह महत्तत्वदि तत्वों के बिना भोग के उपयोगी नहीं होता अतः वह संयोग ही भोग तथा मोक्ष इन दो कार्यों के लिये सर्ग की उत्पति करता है ॥ २१ ॥

सर्गक्रममाह "प्रकृतेर्महान्" इत्यादिना—

अर्थ—अब सर्ग किस क्रम से होता है यह "प्रकृतेर्महान्" इस कारिका द्वारा दर्शाते हैं।

प्रकृतेर्महांस्ततोहङ्कारस्तस्माद्गणश्चषोडशकः।
तस्मादपिषोड़शकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ २२ ॥

अर्थ—प्रकृति से महत्तत्व (बुद्धि) उत्पन्न होता है, महत्तत्व से अहंकार और अहंकार से एकादश इन्द्रियें व पञ्चतन्मात्रायें ऐसे ये सोलह तत्वों का समुदाय (समूह) उत्पन्न होता है, उन सोलह तत्वों की पांचतन्मात्राओं से पञ्च महाभूत आकाशादि उत्पन्न होते हैं।

प्रकृतिर्-अव्यक्तं,महदहङ्कारौवक्ष्यमाणलक्षणौ, एकादशेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि, तन्मात्राणिचपञ्च, सोयंषोडशसङ्ख्यापरिमितोगणःषोडशकः, तस्मादपिषोडशकाद्, अपकृष्टेभ्यःपञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यःपञ्चभूतानिआकाशादीनि,

अर्थ—प्रकृति याने अव्यक्त, वही महदादि तत्वों का उपादान कारण है, क्योंकि उपादान के विना कोई भी कार्य का उत्पन्न होना असंभव है, यदि पुरुष के कार्य को उपादान कहें, तो वह अपरिणामी है इसीसे उपादान का सम्बन्ध प्रकृति ही से होना युक्त है, महत् तथा अहंकार इनका क्रम से आगे २३। २४ कारिका में स्पष्ट वर्णन किया जायगा, ऐसे ही एकादश इन्द्रियां व पंचतन्मात्राओं का भी वर्णन आगे २६,२७ वीं कारिका में होगा, जैसे 'प्रकृतेः' इस पञ्चमी बिभक्ति का अर्थ उपादान है वैसे 'षोडशकात्' इस पञ्चमी का नहीं, क्योंकि (तस्माद्) सोलह विकार के गणों से उत्पत्ति न होकर केवल उनमें के पांचतन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है परन्तु ये तन्मात्राएं अपकृष्ट यानेहीन (क्षुद्र) रहती है, ऐसा शास्त्रकारने माना है, जिसमें सत्व विशेष हो वह उत्तम, रजोबहुलमध्यम, व तमो बहुल अपकृष्ट यानी नीच माना गया है, इन पञ्चतन्मात्राओं में तमोगुण विशेष रहता है तथा सत्व रज अल्प प्रमाण में है, इसलिये उनको अपकृष्ट कहा है।

तत्रशब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणं, शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राद्वायुःशब्दस्पर्शगुणः,शब्दस्पर्शस्तन्मात्रसहितादूरूपतन्मात्रात्तेजःशब्द

स्पर्शरूपगुणं, शब्दस्पर्शरूप तन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्श रूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद्गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्श रूपरसगन्धगुणापृथिवी जायतइत्यर्थः

अर्थ—उन पञ्चतन्मात्राओं में से शब्द तन्मात्रा से आकाश होता है। जिसका शब्द यह गुण है, शब्द तन्मात्राके साथ स्पर्श तन्मात्रा से वायु होता है जिसके शब्द व स्पर्श ऐसे दो गुण हैं, शब्द स्पर्श तन्मात्राके साथ रुप तन्मात्रा से तेज होता है, जिसके शब्द स्पर्श रुप ये तीन गुण हैं, शब्द स्पर्श रुप तन्मात्रा से उदक (जल) होता है, जिसके शब्द स्पर्श रूप रस ये चार गुण हैं, शब्द स्पर्श रुप रस तन्मात्राके साथ गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है, जिसके शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ये पांच गुण हैं, इस तरह पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं।

अव्यक्तंसामान्यतोलक्षितं "तद्विपरीतम्" इत्यनेन, विशेषतश्च 'सत्वंलघुप्रकाशकम्' इत्यादिना व्यक्तमपिसामान्यतोलक्षितं 'हेतुमद्' इत्यादिना, सम्प्रतिविवेकज्ञानोपयोगितयाव्यक्तविशेषंबुद्धिलक्षयति 'अध्यवसाय इति।

अर्थ—पीछे दशवीं कारिकामें 'तद्विपरीतम्' इस पदसे अव्यक्तका सामान्य लक्षण कहा, तेरहवीं कारिका में 'सत्वलघुप्रकाशम्' इत्यादि द्वारा उसीका विशेष लक्षण कहा, और व्यक्त को भी सामान्यतः 'हेतुमद्' इत्यादि द्वारा दशवीं कारिका में कहा, अब विवेकज्ञान के उपयोगी होने से व्यक्त ही का एक भाग जो बुद्धि है, उसका लक्षण कहते हैं।

अध्यवसायोबुद्धिर्, धर्मोज्ञानं विरागऐश्वर्य्यम्।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

अर्थ—निश्चय यही बुद्धि है, धर्म ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य ये उसके सात्विक रूप हैं और इनके विपरीत याने अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा निरैश्वर्य ये तामस रूप है।

"अध्यवसायोबुद्धिः" क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षया, सर्वोव्यवहर्ता आलोच्यमत्वाऽहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेत्यध्यवस्यति, तत

श्चप्रवर्तत इतिलोकप्रसिद्धं, तत्रयोयंकर्तव्यमितिविनिश्चय श्चितिसन्निधाना दापन्न चैतन्यायाबुद्धेः, सोध्यवसायो बुद्धेरसाधारणो व्यापारः, तदभेदा बुद्धिः, सच बुद्धेर्लक्षणं—समानासमान जातीयव्यवच्छेदकत्वात्।

अर्थ—अध्यवसाय याने निश्चय, उसी को बुद्धि कहते हैं वास्तविक निश्चय यह क्रिया होकर बुद्धि उसका आश्रय है, (क्रियेति) परन्तु क्रिया व क्रियावान इनका अभेद रहता है, यह नियम देखकर ही यहां 'अध्यवसाय' याने बुद्धि ऐसा कहा है, (सर्वो) स्वतः कोई भी व्यवहार करने वाले मनुष्य की तरफ यदि देखें तो वह विचार करके मनन करके मैं ही खुद इस कार्य का सच्चा अधिकारी हूं ऐसा अभिमान करने के बाद यह हमको करना चाहिये, ऐसा निश्चय करता है यही दिखेगा, (ततश्चेति) व ऐसा निश्चय करने के बाद वह कार्य में प्रवृत्त होता है। यह भी लोक प्रसिद्ध ही है। (तत्रेति) परन्तु ऊपर बतलाया हुआ कि 'यह मेरा कर्तव्य है' ऐसा जो पुरुष की सान्निध्यतासे चैतन्य युक्त हुआ बुद्धि का निश्चय वही अध्यवसाय है, (सोऽति) वही बुद्धि का असाधारण व्यापार होकर बुद्धि भी तद्रूप ही होती है, क्योंकि व्यापार व व्यापारवान इनका अभेद रहता है, यह अभी ऊपर कह चुके हैं, इस तरह का जो अध्यवसाय वही बुद्धि का लक्षण है, क्योंकि (समानेति) समान व असमान जातीय पदार्थों से पृथक् करने वाला वह धर्म है, अध्यवसाय यह धर्म, बुद्धि के अतिरिक्त कहीं रहता ही नहीं, अतः असाधारण धर्म होने से लक्षण भी वही हुआ।

तदेवं बुद्धिं लक्षयित्वा विवेक ज्ञानोपयोगिनस्तस्याधर्मान् सात्विक तामसानाह—'धर्मोज्ञानं विराग ऐश्वर्यं सात्विकमेतद्रूपं, तामसमस्माद्विपर्यस्तम्' इति।

अर्थ—इस कारिका में 'अध्यवसायो बुद्धिः' इतने हिस्से से बुद्धि का लक्षण कह कर बाद में प्रकृति व पुरुष इनके विज्ञानोपयोगि जो बुद्धिके सात्विक व तामस के भेद वह बतलाते हैं, धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य ये चार बुद्धि के सात्विक रूप है, और इनके विरुद्ध जो धर्म हैं वह तामस रूप हैं।

धर्मोऽभ्युदयनिः श्रेयसहेतुः, तत्रयागदानाद्यनुष्ठान जनितोधर्मोऽभ्यु-

दयःहेतुर् ,अष्टांग योगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुः गुणपुरुषान्यता ख्याति ज्ञानं, विरागः=वैराग्यं-रागाभावः, तस्य यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकादशेन्द्रिय संज्ञा, वशीकारसंज्ञा, इति चतस्रःसंज्ञा।

अर्थ—धर्म-अभ्युदय (उन्नति) तथा मोक्ष इनका कारण हुआ करता है, परन्तु उन्नति का कारण होने वाला धर्म कौनसा है,व मोक्ष प्राप्त करने वाला धर्म कौनसा है, यह प्रथम बतलाना चाहिये, (तत्रेति) यज्ञ, दान, अनुष्ठान इत्यादि से उत्पन्न हुआ धर्म उन्नति का कारण होता है, यम, नियम, आसन इत्यादि अष्टांग योग के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाला धर्म मोक्ष के प्रतिकारण होता है, (गुणेति) प्रकृति व पुरुष ये पृथक २ हैं, यह विवेक होना ही ज्ञान है। किसी वस्तु में प्रेम न होना इसी को विराग या वैराग्य कहते हैं, (तस्येति) उसकी यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, ऐन्द्रियक संज्ञा तथा वशीकार संज्ञा ऐसे चार प्रकार हैं।

रागादयः कषायाश्चित्तवर्तिनस्तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यंते तन्माऽत्र प्रवर्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नो यतमानसंज्ञा।

अर्थ—राग यानी पदार्थ विषयक अभिलाषा,वैसे ही द्वेष, लोभ, मोह इत्यादि जो चित्त के मल हैं, वे चित्त में वासना उत्पन्न करते हैं, व मनोहर भी मालूम होते हैं, इसी से इनको कषाय कहते हैं, वे चित्त में रहकर प्रत्येक इंद्रियों को अपने २ विषय की तरफ प्रवृत्त करते हैं, परन्तु इंद्रियां विषय में प्रेरित न होवें, ऐसे जो उनको निर्बल करने के लिये किये गये प्रयत्न उसी को यतमान संज्ञक वैराग्य कहते हैं।

इन्द्रिय प्रवर्तन समर्थतया पकानामौत्सौक्यमात्रेण मनसिव्यवस्थानमेकेन्द्रिय संज्ञा, औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिर् उपस्थितेष्वपि दृष्टानुश्रविक विषयेषु या संज्ञा त्रयात्पराचीना सा वशीकारसंज्ञा, यामत्रभगवान् पतञ्जलिर्वर्णयाञ्चकार 'दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति, सोयं वुद्धि धर्मो विराग इति।

अर्थ—यद्यपि चित्तगतकषय हैं, परन्तु वे इन्द्रियों को विषय में प्रवृत्त

कराने में असमर्थ होने पर उनको केवल उत्सुकता से भी मन में न रखना इसी को एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य कहते हैं, (उपस्थितेपि) ऐहिक व अमुत्र विषयों का इन्द्रियों से संसर्ग होने पर भी उनके विषय में उत्सुकता न रखना इसी को वशीकार संज्ञक वैराग्य कहते हैं, यह तीनों वैराग्य से भिन्न संज्ञक है इसके लिए परमपूज्य महर्षि पातञ्जलिमुनिने 'दृष्ट'इत्यादि कहा है,अर्थात्— इह तथा परत्र विषयों के विषय में निर्लोभ पुरुषको वशीकार संज्ञक वैराग्य प्राप्त होता है, (सोयं) इस प्रकार का जो बुद्धि का धर्म उसको विराग कहते हैं ।

ऐश्वर्य्यमपिबुद्धिधर्मः, यतोऽणिमादिप्रादुर्भावः । तत्राऽणिमा= अणुभावः, यतःशिलामपिप्रविशति, लघिमा=लघुभावः, यतःसूर्यमरीचीना लम्ब्यसूर्यलोकंयाति, महिमा–महतोभावः, यतोमहानसंभवति, प्राप्तिर्= अङ्गुल्यग्रेणस्पृशति चन्द्रमसम्, प्राकाम्यम्=इच्छानभिघातः, यतोभूमाबु न्मज्जति, निमज्जतिच, यथोदके, वशित्वं,=भूतभौतिकंवशीभवत्यवश्यम्, ईशित्वम्=भूतभौतिकानां प्रभवव्यूहव्यानामीष्टे,यत्रकामावसायित्वं=सत्य- सङ्कल्पता, यथाऽस्यसंकल्पोभवतिभूतेषुतथैवभूतानिभवन्ति, अन्येषाम्मनु ष्याणांनिश्चयानिश्चेतव्यमनुविधीयन्ते, योगिनस्तुनिश्चेतव्याःपदार्थानिश्चयम् इतिचत्वारःसात्विकाबुद्धिधर्माः । तामसास्तुतद्विपरीताबुद्धिधर्माः—अध- र्माज्ञाना वैराग्यानैश्वर्याभिधानाश्चत्वारइत्यर्थः ।

ऐश्वर्य यह भी बुद्धि का ही धर्म है, (यतो) उससे अणिमादि अष्ट सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, (तत्रेति) उनमें अणिमा याने अणुभाव प्राप्त होने पर मनुष्य पत्थर की शिला में भी प्रवेश कर सकता है लघिमा याने लघुभाव, इस सिद्ध के प्राप्ति होने पर मनुष्य सूर्य के किरणों का आश्रय लेकर सूर्य लोक में जाता है, महिमा अत्यन्त बड़ा होना जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य आकाश से भी बड़ा हो सकता है, प्राप्ति याने जो चाहे सो प्राप्त हो, इससे मनुष्यअङ्गुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को स्पर्श कर सकता है, प्राका म्यम् याने अप्रतिहतगति जिसकी कहीं रुकावट नहीं, इसके योग से जलवत् पृथ्वी में डूब सकता है व पुनः ऊपर भी आ सकता है, वशित्वम् याने वश

होना, इसके द्वारा यावत् चराचरप्राणी अवश्य वशीभूत होते हैं, ईशित्वम् याने प्रभुत्व, इसके प्राप्त होने पर योगी सब सृष्टि पर अधिकार चला सकता है इनमें जो आठवीं 'कामावसायित्व'नामकी सिद्धि है उसका अर्थ सत्यसंकल्पताहै, इस सिद्धिके प्राप्त होने पर उस योगीके संकल्प सामान्य,मनुष्यों की तरह कभी असत्य नहीं होते अर्थात् वह योगी भूतों के विषय में जो २ संकल्प करता है वे २ होते हैं, सारांश क्षुद्र लोगों को जिस विषय का निश्चय होता है, उसका पूर्ण अनुभव के बाद निश्चय करते हैं। परन्तु उक्तसिद्धि सम्पन्न योगी पदार्थ के विषय में जैसा निश्चय करता है, वैसे ही वे पदार्थ हो जाते हैं, अर्थात् उनके निश्चय स्वतंत्र होने से हर एक पदार्थ उनके तंत्र से वर्त्ताव करते हैं, (इतीति) इस तरह बुद्धि के ये धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य ऐसे चारभाव सात्विक हैं।तथा बुद्धि के तामस धर्म इनके (सात्विक के) विपरीत यानी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य्य ये चार धर्म हैं ॥ २३ ॥

अहंकारस्यलक्षणमाह—"अभिमानोऽहंकार" इति।

अब अहकार का लक्षण कहते हैं—

अभिमानोऽहंकारः, तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्चगणः, तन्मात्र पञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

अर्थ—'मैं' ऐसा जो अभिमान उसी को अहंकार कहते हैं, अहंकार से दो प्रकार का तत्व समुदाय उत्पन्न होता है। एक तो ग्यारह इन्द्रियों का गण व दूसरा पञ्चतन्मात्राओं का समूह।

अभिमानोऽहंकारः=यत् खल्वालोचितं मतं च तत्राहमधिकृतः-शक्तः खल्वहमत्र-मदर्था एवामीविषयाः मत्तोनान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति अतोऽहमस्मि इति योभिमानः सोऽसाधारण व्यापारोऽहंकारः, तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति—'कर्तव्यमेतन्मया' इति।

अर्थ—जिसका आलोचन किया हुआ रहता है, या जो माना गया हो उसमें मेरा ही अधिकार है। (शक्तः) मैं ही करने में समर्थ हूं, मेरे ही लिये सब विषय हैं, उनका मेरे सिवाय दूसरा कोई भी अधिकारी नहीं, इस तरह का 'मैं' हूं। ऐसा जो अभिमान, वह चित्त का असाधारण व्यापार होने से

अहंकार है। (तमिति) इस अहंकार के बल से ही बुद्धि 'यह मेरा कर्तव्य है' ऐसा अध्यवसाय करती है।

तस्यकार्यभेदमाह— "तस्माद्द्विविध: प्रवर्तते-सर्ग:" प्रकारद्वयमाह "एकादशकश्चगण:" =इन्द्रियाह्व:, "तन्मात्रपञ्चकश्चैव" द्विविध एव सर्गो ऽहंकारान्न त्वन्यइत्येवकारेणावधारयति ॥ २४ ॥

अर्थ—अब उसके कार्य बतलाते हैं, उक्त लक्षण से युक्त अहंकार से दो प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं। प्रथम एकादशगण (समूह) इन्द्रिय संज्ञक कार्य व दूसरा पंचतन्मात्रासंज्ञक कार्य । कारिकान्त में 'एव' शब्द योजित कर अहंकार से द्विविध कार्य के सिवाय और कोई कार्य उत्पन्न नहीं होते ऐसा निश्चय कराया है ॥ २४ ॥

स्यादेतद्—अहंकारादेकरूपात्कारणात्कथं जड़प्रकाशकौ गणौ विलक्षणौ भवत:, इत्यतआह—"सात्विक" इत्यादि।

अर्थ—अहंकार रूप एक कारण से जड़ व प्रकाशक ऐसे परस्पर विलक्षण दो प्रकार के समुदाय कैसे होते हैं ? इस शंका के निरसनार्थ ग्रन्थकार 'सात्विक' इस कारिका द्वारा कहते हैं।

सात्विक एकादशक: प्रवर्तते वैकृतादहंकाराद् ।

भूतादेस्तन्मात्र: सतामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

अर्थ—सात्विक अहंकार से ग्यारह प्रकार का सात्विक इन्द्रियगण (समूह) उत्पन्न होता है, व तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्रादिगण प्रवृत्त होता है, व राजस अहंकार से उन दोनों की प्रवृत्ति होती है ॥ २५ ॥

प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगण: सात्विकोवैकृतात्=सात्विकादहंकारात्प्रवर्तते, भूतादेस्तु=अहंकारात्तामसात्तुतन्मात्रोगण: प्रवर्तते, कस्माद्, यत: स तामस:, एतदुक्तंभवति–यद्यप्येकोहंकारस्तथापिगुणभेदोद्भवाभिभवाभ्यां भिन्नं कार्यं करोतीति।

अर्थ—इंद्रियगण सात्विक हैं, क्योंकि प्रकाश तथा लाघव यानी विषयों को व्यक्त करने का सामर्थ्य तथा हलकापना से सत्वगुण के धर्म उनमें

रहने से इन्द्रियगण सात्विक अहंकार से होता है, ऐसा कहा गया, (तद्वत) (भूतादेः) तन्मात्रगण तामस होने से तामस अहंकार से उत्पन्न हुआ है, ऐसा कहा गया है, अहंकार यद्यपि एक ही है। तथापि सत्वादि तीन गुणों के भेद से उत्पत्ति तथा लय इनके द्वारा पृथक् २ कार्य करता है।

ननुर्यदिसत्वतमोभ्यामेव सर्वं कार्यं जन्यते, तदाकृतमकिञ्चित्करेण रजसा, इत्यतआह—"तैजसादुभयं" तैजसाद्=राजसाद् उभयं=गणद्वयं भवति।

अर्थ—(नन्विति) परन्तु यहां ये शंका उपस्थित होती है कि कारिका में कहे गये सत्व व तम इन दोनों ही से जब सब कार्यों की उत्पत्ति है, तो कुछ भी न करने वाला ऐसा 'रजोगुण' का क्या काम ? यानी किसी भी कार्य के उपयोगी न होने वाले ऐसे रजोगुण की गुणों में गणना करने का क्या प्रयोजनथा,इसका समाधान इस तरह करते हैं कि रजोगुण, सत्व व तमको तीक्ष्ण किया करता है, अतः उसकी गुणों में गणना किये बिना काम नहीं, चलता,इस कारिका में 'तैजसादुभयं' कहा है,उसका अर्थ यह है कि रजोगुण के सहाय से ये दोनों गुण होते हैं।

यद्यपिरजसो न कार्यान्तरमस्ति तथापि सत्वतमसी स्वयमक्रिये समर्थे अपि न स्वस्वकार्यं कुरुतः, रजस्तुचलतया ते यदा चालयति तदा स्वस्व कार्यं कुरुतइति, तदुभयस्मिन्नपि कार्येसत्वतमसोः क्रियोत्पादन द्वारेणास्तिरजसः कारणत्वमिति न व्यर्थं रज इति।

अर्थ—यद्यपि रजोगुण का स्वतन्त्र कार्य कोई भी नहीं है यह सत्य है, परंतु सत्व व तम ये दोनों गुण स्वतःअक्रिय होनेसे अपने २ कार्य करनेमें समर्थ होने पर भी वे कर नहीं सकते, (रजस्तु) चल रहने वाला रजोगुण जब उन दोनों को चलाता है, वे दोनों अपने २ कार्य कर सकते हैं, (तदुभयेति) सत्व व तम इनको उक्त रीति से चलन देकर उनमें क्रिया उत्पन्न कराने वाला रजोगुण ही उस क्रियाके द्वारा सात्विक व तामस कार्यका कारण हुआ करता है, इसलिये रजोगुण व्यर्थ है ऐसा नहीं कह सकते।

सात्विकमेकादशमाख्यातुं वाह्येन्द्रिय दशकंतावदाह='वुद्धीन्द्रियाणि' इत्यादिना।

अर्थ—सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुआ जो एकादश इन्द्रियोंका समूह उनमें से प्रथम वाह्य दृग्गोचर जो दश इन्द्रियां सो कौन कौन सो हैं वही दिखाते हैं।

बुद्धीन्द्रीयाणि चक्षुः श्रोत्र घ्राण रसन त्वगाख्यानि ।
वाक्पाणि पादोपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

अर्थ—नेत्र,श्रोत्र,घ्राण,रसन,तथा त्वक् येपांच बुद्धी (ज्ञान) इंद्रियां हैं, तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं, ऐसा सुज्ञ कहते हैं।

सात्विकाहंकारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्, तच्चद्विविधं–बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, उभयमप्येतद् इन्द्रस्य=आत्मनश्चिन्हत्वादिन्द्रियमुच्यते, तानि च स्व संज्ञाभिश्चक्षुरादिभिरुक्तानि।

अर्थ—'सात्विकाहंकारोपादानकत्वं' यह इंद्रिय का लक्षण है, तथा उसका अर्थहै–सात्विक अहंकार यह जिनका उपादान कारण हो वह इंद्रिय है, (तच्चेति) इंद्रियों के दो भेद हैं। एक तो बुद्धीन्द्रिय व दूसरा कर्मेन्द्रिय (उभयेति) परन्तु इन्द्रिय इनका यह नाम कैसे पड़ा यह बतलाना चाहिये, (आत्मनेति) आत्मा का जो लिंग (अनुमिति ज्ञान का साधन) वह इंद्रिय है ऐसा जानना। (तानीति) चक्षु श्रोत्रादि ये उनके नाम हैं।

तत्ररूपग्रहणलिंगं चक्षुः, शब्द ग्रहण लिंगं श्रोत्रं, गंध ग्रहण लिंगं घ्राणं, रसग्रहणलिंगं रसनं, स्पर्श ग्रहण लिंगं त्वक्, वागादीनां कार्यं वक्ष्यति।

अर्थ—उन बुद्धीन्द्रियों में रूपके ज्ञान का जो साधन वह चक्षुरिन्द्रिय है, शब्द ज्ञान का जो साधन वह श्रोत्रेन्द्रिय है, गन्ध ज्ञान का जो साधन वह घ्राणेन्द्रियहै,रसज्ञान का जो साधन वह रसनेन्द्रिय तथा स्पर्श ज्ञान का जो साधन वह त्वगिन्द्रिय है, वाक् पाणि, इत्यादि कर्मेन्द्रियों का कार्य आगे २८ वीं कारिका में कहेंगे ॥ २६ ॥

एकादशमिन्द्रियमाह—"उभयात्मकम्" इति।

अर्थ—अब प्रथम अवशिष्ट ग्यारहवां इन्द्रिय कौन सा है, वह "उभयात्मकम्" द्वारा कहते हैं।

उभयात्मकमत्रमनः, संकल्पमिन्द्रियं च साधर्म्याद् ।

गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं वाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

अर्थ—इन ग्यारह इन्द्रियों में का ग्यारहवां इन्द्रिय जो मन है वह उक्त दोनों प्रकार का है, संकल्प यही इसका लक्षण है। उक्त इन्द्रियों के व इस (मन) के धर्म एक सदृश होने से इसको इन्द्रिय ऐसा कहते हैं। जैसे-गुणों के परिणाम में फरक पड़ने से वाह्य पदार्थ में भी फरक पड़ जाता है, यानी अनेक भांति के हो जाते हैं। वैसे ही गुण परिणाम विशेष से इन्द्रियां अनेक हो गई हैं ॥ २७ ॥

एकादशस्विन्द्रियेषुमध्ये मनउभयात्मकम्=बुद्धीन्द्रियंकर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः।

अर्थ—एकादश इन्द्रियों में से 'मन' इस नाम का ग्यारहवां इन्द्रिय बुद्धीन्द्रियरूप तथा कर्मेन्द्रियरूप है, क्योंकि मन की अध्यक्षता ही में नेत्र, वागादि इन्द्रियां अपना २ कार्य कर सकती हैं।

तदासाधारणेनरूपेणलक्षयति—"संकल्पकं मन" इति, संकल्पेन रूपेणमनो लक्ष्यते, आलोचितमिन्द्रियेणवस्तु, 'इदम्' इति सम्मुग्धम् 'इदमेवं नैवम्' इति सम्यक् कल्पयति=विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति यावद्।

अर्थ—(तदिति) अतः उसका असाधारणरूप कहकर ही लक्षण ठहराना चाहिये, और इसी के लिये 'संकल्पकं मन' यह उसका लक्षण कारिका में बतलाया है। इन्द्रियों ने जिसका कुछ 'यह है' ऐसा आलोचन किया है। उसके विषय में 'यह अमुक ऐसी है, या यह अमुक ऐसी नहीं' ऐसा मन अच्छी रीति से संकल्पित करता है व विशेषण विशेष्यभाव से उसका विवेचन करता है, इसीसे इसको संकल्पक यानी अच्छी कल्पना करने वाला कहा है।

यदाहुः—"सम्मुग्धंवस्तुमात्रंहिप्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितं, तत्सामान्य विशेषणाभ्यां कल्पयन्तिमनीषिणः" तथाहि—"अस्तिह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकं, बालमूकादि विज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजं, ततः परं पुन-

वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया, बुद्‌ध्याऽवसीयते सा हि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता" इति ।

अर्थ—इस विषय में शास्त्रकारों का यह कहना है, कि (सम्मुग्धमिति) विद्वज्जन (विद्वानलोग) पहिले संदिग्ध तथा विशेष्य विशेषण भाव-रहित ऐसे वस्तु का संग्रह करते हैं, उसके पश्चात् उसको सामान्य-विशेषरूप से कल्पना करते हैं, कारण किसी भी वस्तु का केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान निर्विकल्पक रहता है, ज्ञान वस्तु उसमें नहीं जाना जाता, (बालेति) वह ज्ञान बालक, मूक, इत्यादिकों के ज्ञान के सदृश रहता है । (ततः) आगे जिस बुद्धिके योगसे वस्तुकी जाति,गुण इत्यादि विशेषणों द्वारा युक्त निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वह बुद्धि का प्रत्यक्ष ज्ञान है, ऐसा माना गया है । तात्पर्य इस मत से बुद्धि वृत्ति यही ज्ञान होकर उस वृत्ति में प्रतिविम्बित पुरुष का चैतन्य यह फल है ।

सोयं संकल्प लक्षणो व्यापारो मनसः समानासमान जातीयाभ्यां व्यवच्छिन्दन् मनोलक्षयति ।

अर्थ—इस तरह का जो मन का संकल्प रूप व्यापार वह मन को अनुमित्यादि सजातीय तथा घटादि विजातीय पदार्थों से प्रथक करता है, अतः मन का लक्षण और इसी से उसका अनुमान भी होता है ।

स्यादेतद्-असाधारण व्यापार योगिनौ यथामहदहंकारौ नेन्द्रियम् एवम्मनोप्यसाधारण व्यापार योगिनेन्द्रियं भवितुमर्हति इत्यतआह-इंद्रियंच' इति कुतः 'साधर्म्याद्' इन्द्रियान्तरैः, सात्विकाहंकारोपादानत्वं च साधर्म्यं, नत्विन्द्रलिंगत्वम्, महदहंकारयोरप्यात्मलिंगत्वेनेन्द्रित्वं प्रसंगात्, तस्माद् व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्र लिगत्वं न तु प्रवृत्ति निमित्तम् ।

अर्थ—यहां पर यह शंका होती है कि महत् तथा अहंकार ये दोनों असाधारण व्यापार से युक्त हैं, परन्तु उनको जैसे इन्द्रिय नहीं सकते । (एवमिति) वैसे ही असाधारण व्यापार से युक्त मनको भी इन्द्रिय नहीं कहना था, (इत्यतआह) इसका समाधान ऐसा है कि 'मन यह इन्द्रिय है' कारण अन्य इन्द्रियों से उसका साधर्म्य अर्थात् समान धर्मत्व है, जो धर्म नेत्रादि

इन्द्रियों में विद्यमान हैं सो इसमें भी वर्तमान हैं, वे धर्म कौनसे हैं सो कहते हैं, (सात्वकेति) 'सात्विकाहंकारोपादानत्व' अर्थात् सात्विक अहंकार उपादान कारण रहना यह अन्य दश इन्द्रियों में रहने वाला धर्म मन में भी है। (नेति) इन्द्रलिंगत्व यह समान धर्म यहां पर नहीं ले सकते। (महदहंकारयो)क्योंकि महत् तथा अहंकार ये भी आत्मा के चिह्न हैं, अतः इन्द्रलिंगत्व धर्म यहां ग्रहण करेंगे तो उनको भी इन्द्रिय कहना पड़ेगा। (तस्मात्) इसी से इंद्र लिंगत्व जो ऊपर कहा है, वह केवल व्युत्पत्ति दिखाने के लिये कहा है। (नेति) वह इन्द्रिय इस शब्द के प्रवृत्तिका निमित्त है, ऐसा नहीं समझना।

अथ कथं सात्विकादहंकारादेकस्मादेकादशेन्द्रियाणि, इत्यतआह 'गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च' इति, शब्दाद्युपभोग प्रवर्तका दृष्टसहकारिभेदात्कार्यभेदः, अदृष्टभेदोपि गुणपरिणाम एव, बाह्यभेदाश्च' इति दृष्टान्तार्थं, बाह्यभेदास्तथैतदपीत्यर्थः।

अर्थ—अब यदि कोई यह कहे कि एक ही रूप से युक्त सात्विक अहं-कारसे परस्पर विलक्षण एकादश इन्द्रियां कैसे हुई? तो इसका समर्थन करते हैं कि 'गुण' गुणों के परिणाम भिन्न २ होनेसे बाह्यभेदवत् इंद्रियां अनेक होगई। (शब्देति) शब्दादि विषयों का उपभोग कराने वाला जो अदृष्ट वह भोग का सहकारी कारण रहता है, तथा उसके भेद से भोग साधन रुप इन्द्रियों का भेद हुआ है, और अदृष्ट भेद यह भी एक गुणों का परिणाम ही है, कारिका में "वाह्यभेदाश्च" जो पद है उसका यही अर्थ होता है, (यथेति) जैसे गुणों के भिन्न २ परिणाम होने से वाह्य पदार्थ भिन्न भिन्न हुये हैं, वैसे ही इन्द्रियों का प्रकार समझो।

तदेवमेकादशेन्द्रियाणिस्वरूपतउक्त्वा दशानामप्यसाधारणीर्वृत्तीराह "रूपादिषु" इति।

अर्थ—इस तरह ग्यारह इन्द्रियों के स्वरूप कहकर उनमें की आध दश इन्द्रियों की असाधारण वृत्ति कौन सी है सो कहते हैं।

रुपादिषुपञ्चानामालोचन मात्र मिष्यते वृत्तिः।

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्॥ २८॥

अर्थ—नेत्रादि पांच इन्द्रियों का, रूपादि विषयों का केवल आलोचन करना यही कार्य माना गया है, तथा वागादि पांच कर्मेन्द्रियों का–बोलना, लेना, बिहार करना, विष्ठात्याग करना, आनन्दोपभोग करना ये कार्य हैं ॥२८॥

बुद्धीन्द्रियाणां सम्मुग्धवस्तुमात्र दर्शनमालोचनमुक्तं, "बचनादान विहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां=कर्मेन्द्रियाणां, कण्ठताल्वादि स्थानमिन्द्रियं वाक्, तस्या वृत्तिर्बचनं, स्पष्टमन्यद् ।

अर्थ—बुद्धीन्द्रियां कौन सी हैं, यह २६ वीं कारिका में कहा गया है। उनका धर्म केवल संशययुक्त वस्तु का दर्शन करना यही आलोचन नामक बुद्धीन्द्रियों का कार्य है। वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं इनके द्वारा होने वाले कर्म–बोलना इत्यादि ऊपर कह चुके हैं, नेत्र, कान, नाक इत्यादि पांच ज्ञानेन्द्रियों के स्थान स्पष्ट होने से सहज जान सकता है। परन्तु वागादि इन्द्रियों के स्थान उरू, कण्ठशिर, जिह्वामूल, दन्त, ओष्ठ, नासिका, तालु ऐसे आठ हैं, इन्हीं को वागीन्द्रय कहते हैं। इनका कार्य बोलना (शब्द) है। ग्रहण करना यह हाथ का कार्य है। गती का साधन पाद और पेट का मल त्यागनेका साधन पायु है तथा स्त्री संभोग द्वारा आनन्दोपभोग का साधन उपस्थ है।

अन्तःकरणत्रयस्य वृत्तिमाह—"स्वालक्षण्यं" इति—

अब अन्तःकरणत्रय का व्यापार कहते हैं

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषाभवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

अर्थ—महत्तत्व, अहंकार और मन इन अन्तःकरणत्रय की वृत्ति=यानी व्यापार ही उनका लक्षण है, और 'असाधारण लक्षण' यही उनका व्यापार है, परन्तु यह उनकी असामान्य वृत्ति है, उनकी सामान्यवृत्ति प्राणादि वायु पंचक है।

"स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य"=स्वम्=असाधारणं लक्षणं येषां तानि स्वलक्षणानि–महदहंकारमनांसि, तेषांभावः स्वालक्षण्यं, तच्च स्वानिस्वानि-लक्षणान्येव–तद्यथा महतोऽध्यवसायः, अहंकारस्याभिमानः, संकल्पो मनसः वृत्तिर्=व्यापारः।

अर्थ—इन अन्तःकरण त्रय की वृत्ति याने व्यापार यही उनका लक्षण है, व असाधारण लक्षण यही उनका व्यापार है, (तदिति) उस महत (बुद्धि) का 'अध्यवसाय' असाधारण यह लक्षण है, अहंकार का अभिमान व मन का संकल्प ये लक्षण हैं, और यही इनकी वृत्ति (व्यापार) है।

वृत्तिद्वैविध्यं साधारणासाधारणत्वाभ्यामाह-"सैषाभवत्यसामान्या"=असाधारणी, "सामान्यकरण वृत्तिः प्राणाद्या वायावः पञ्च" सामान्या चासौकरण वृत्तिश्चेति, त्रयाणामपिकरणानां पञ्चवायवो जीवनं वृत्तिः, तदभावे भावात् तदभावे चाभावात्।

अर्थ—परन्तु वृत्ति के साधारण व असाधारण ऐसे दो भेद हैं, उनमें महत्, अहंकार, व मन इनके अध्यवसाय, अभिमान व संकल्य ये असाधारण वृत्तियां हैं। असाधारण याने असामान्य, असामान्य, याने अपने अधिष्ठान बिना न रहने वाली, अब इनकी साधारण वृत्ति कौनसी है, सो बतलाते हैं, 'प्राणादि वायु पंच ये ही इनकी सामान्य (साधारण) वृत्ति है, साधारण याने तीनों अन्तःकरण में रहने वाली, जैसे अध्यवसाय केवल बुद्धि में, अभिमान अहंकार में, संकल्प मन में रहता है, वैसे कुछ प्राणादि वायु पञ्च ये एकैक में रहने वाले नहीं है, वे (महदादि) अन्तःकरण के आधार से रहते है, इसी से इनको उन करणों का साधारण व्यापार कहा है, (त्रयाणामिति) तीनों करणों के जीवन में प्राणादि वायु ही कारण है, इनका इतना घनिष्ठ अन्योन्य संबंध है कि परस्पर के बिना प्रथक नहीं रह सकते और यह तो अनुभवी बात है, कि प्राणादियों कि वृत्ति रहने पर ही जीवन रहता है, अन्यथा नहीं।

तत्र प्राणो नासाग्रहृन्नाभि पादांगुष्ठवृत्तिः, अपानः कृकाटिका पृष्ठपाद पायूपस्थ पार्श्ववृत्तिः, समानो हृन्नाभि सर्वसंधिवृत्तिर्, उदानो हृत्कंठ तालुमूर्द्ध भ्रूमध्य वृत्तिः, व्यानस्त्वग् वृत्तिर्, इति पञ्चवायवः।

अर्थ—इन पांच वायुओं के शरीरस्थ व्यापार कहतेहैं यथा-प्राणवायुका व्यापार-नासा का अग्र भाग, हृदय, नाभि, पांव का अंगूठा, अपान गरदन, पीठ, पांव, पायु, उपस्थ व कोख में होता है, समान वायु का व्यापार हृदय, नाभि, व सब संधियों में होता है, उदान वायु का व्यापार हृदय, कंठ, तालु, मूर्धा

(मस्तक) व भ्रकुटी में होता है, व्यान वायु सब त्वचा में व्याप्त रहता है, इस प्रकार ये पांच वायु हैं ।

चतुर्विधकरणस्यासाधारणीषु वृत्तिषु क्रमा क्रमौ सप्रकारावाह "युगपच्चतुष्टयस्य" इति—

अर्थ—इन अन्तःकरणों की असाधारण वृत्तियां एक ही काल उत्पन्न होती हैं, व कभी २ एक साथ ही उत्पन्न होती हैं, व कभी क्रमशः होती हैं, यही ३० वीं कारिका में बतलाते हैं।

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।

दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे दृष्ट विषय में अन्तःकरण चतुष्टय की वृत्ति एक ही काल में या क्रमशः होती है। वैसे ही अदृष्ट (परोक्ष) विषय में भी अन्तःकरण त्रय की वृत्ति दृष्टपूर्वक उत्पन्न होती है ऐसा कहा है ॥ ३० ॥

"दृष्टे" यथा—यदासन्तमसाऽन्धकारे विद्युत् सम्पातमात्राद्व्याघ्र मभिमुखमतिसन्निहितं पश्यति तदा खल्वस्यालोचन संकल्पाभिमाना-ध्यवसाया 'युगपद्' एवप्रादुर्भवन्ति यस्तत उत्प्लुत्य तत्स्थानादेकपदेऽप-सरति ।

अर्थ—पहिले अन्तःकरण चतुष्टय कौन से हैं, वह जान लेना चाहिये। १—इन्द्रिययुक्त मन, इसी को इन्द्रिय विशिष्ट मन कहते हैं, २—केवल यानी इन्द्रिय रहित मन, ३—अहंकार, ४—बुद्धि इन्हीं का क्रम से आलोचन, संकल्प, अभिमान व अध्यवसाय ये चार वृत्ति=व्यापार हैं। (दृष्टेति) दृष्ट यानी प्रत्यक्ष विषय में अन्तःकरण चतुष्टय की वृत्तियां एक साथ तथा क्रमशः कैसे प्रवृत्त होती हैं, यह बताते हैं, जैसे (यथेति) कोई एक मनुष्य घनान्धकार वन में फिर रहा है, इतने में एकाएक बिजली चमकी, उसी समय समीप में खड़ा हुआ उसे वाघ देख पड़ा, बिचारो, ऐसे वक्त उस (मनुष्य) की क्या अवस्था होगी। ऐसे समय अन्तःकरण चतुष्टय की वृत्तियां एक साथ पैदा होंगी या क्रमशः ? कालस्वरूपी वाघ सन्मुख खड़ा हुआ देखते ही उसकी आलोचनादि सब वृत्तियां एक साथ पैदा होंगी, यह बात निस्संशय

बाद रहित है। तथा उसी समय वह मनुष्य अलग खड़े रहने का प्रयत्न कर दूर जा खड़ा हो सकता है, इस उदाहरण से अन्तःकरण चतुष्टय की वृत्ति एक दम कैसे शुरू होती है वह दिखाया है।

"क्रमशश्च"—यदामन्दालोके प्रथमं तावद्वस्तुमात्रं सम्मुग्ध-मालोचयति, अथप्रणिहितमनाः कर्णान्ताकृष्टसशरशिञ्जितमण्डलीकृत कोदण्डः प्रचण्डतरःपाटच्चरोयमिति निश्चिनोति, अथ च 'माम्प्रत्येति' इत्यभिमन्यते, अथाऽध्यवस्यति-'अपसरामीतः स्थानाद्' इति।

अर्थ—अब वे वृत्तियां क्रमशः कैसे होती हैं, वह दिखलाते हैं, (यदेति) यदि कोई एक मनुष्य मन्द प्रकाश में जंगल से जाते हुये उसको अचानक कोई वस्तु देख पड़ी तो पहले 'यह कुछ है' ऐसा केवल आभास हुआ, इसी को सेन्द्रिय आलोचना मनोवृत्ति कहते हैं, तदनन्तर उस वस्तु को वह (मनुष्य) लक्षपूर्वक देखता है और देखने से निश्चय करता है कि, एक मनुष्य जिसने कानों तक धनुष की डोरी खैंच पैंतरे के साथ खड़ा है। जिस धनुष वाण की डोर रणत्कार शब्दकर रही है, जिसने स्वसामर्थ से धनुष को मण्डलाकार कर रक्खा है, 'ऐसा यह चोर है,ऐसा निश्चय करने के बाद, वह चोर मेरे ही तरफ झुका हुआ आ रहा है, ऐसा अभिमान करता है। तथा अन्त में 'यहां से भाग जाना यही ठीक है' ऐसा अध्यवसाय करता है,ये क्रमशः होने वाली दूसरी वृत्ति कही है।

परोक्षेत्वन्तः करणत्रयस्य बाह्येन्द्रियवर्जं वृत्तिरित्याह—'अदृष्टे त्रयस्यतत्पूर्विका वृत्तिर्' "अन्तःकरण त्रयस्ययुगपत्क्रमेण च वृत्तिदृष्ट पूर्विकेति, अनुमानागमस्मृतयोहि परोक्षेऽर्थे दर्शनपूर्वाः प्रवर्तन्ते नान्यथा, यथा दृष्टे "तथाऽदृष्टेपि" इतियोजना॥ ३०॥

अर्थ—अब परोक्ष याने अप्रत्यक्ष वस्तु के विषय में जो अन्तःकरणत्रय का व्यापार होता है, वह इससे भिन्न क्यों और कैसे होता है, सो दर्शाते हैं—अदृष्ट पदार्थ का सेन्द्रिय मन से आलोचन होना असंभव है, इसलिये मन, अहंकार तथा बुद्धि इन तीनों का ही व्यापार वहां होता है,तथा वह दोनों प्रकार (क्रमशः युगपत) का व्यापार प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्वक ही रहता है, (अनुमानेति)

और परोक्ष विषय में अनुमान, आगम (शास्त्र) व स्मृति इनके सिवाय अन्य की प्रवृत्ति नहीं होती,कारण वह भी पहिले अनुभव किया होगा तभी प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसा नियम है, परोक्ष विषय में अनुभव पूर्वक प्रवृत्त होने वाले अनु-मानादि प्रवृत्त होते हैं व उसी के अनुरोध से अन्तःकरणत्रय का संकल्प, अभि-मान तथा अध्यवसाय यह तीनों व्यापार भी होते हैं।

स्यादेतत्-चतुर्णांत्रयाणा वा वृत्तयो न तावत् तन्मात्राधीनाः, तेषां सदातनत्वेन वृत्तीनां सदोत्पाद प्रसंगाद् आकस्मिकत्वेतु वृत्तिसंकर प्रसंगो नियम हेतोरभावाद् इत्यत आह–"स्वांस्वाम्" इति।

अर्थ—अब उक्त विषय में यह शंका होती है कि अंतःकरण चतुष्टय की या अंतःकरणत्रय की क्रमशः या एक साथ वृत्ति होती है, ऐसा जो आपका कहन है, यह यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा मान लेने से वे वृत्तियां तन्मात्राधीन हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि (तेषां) ऐसा मान लेने से तन्मात्रा ये तत्व नित्य होने से पूर्वोक्त वृत्ति की भी उत्पत्ति सदा होती रहेगी, अर्थात् उनकी उत्पत्ति को विशेष प्रकार के निमित्तकी आवश्यकताही नहीं ऐसा कहनेका प्रसंग प्राप्त होगा। (आकस्मिकत्वेतु) यदि वे वृत्तियां बिना कारण ही चाहे जब उत्पन्न होती हैं, ऐसा कहें तो उनका संकर होने का प्रसंग आता है, क्योंकि उनका संकर न होने देने वाला कोई नियम न होने से कारण शून्य उन वृत्तियों का संकर होना कोई नियम विरुद्ध बात नहीं है, इसका समाधान 'स्वांस्वाम्' इस कारिका से दिखाते हैं।

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्परा कूतहेतुकां वृत्तिं।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्य्यते करणम् ॥३१॥

अर्थ—इन्द्रियां परस्पर ऐक २ का गुह्य अभिप्राय जानकर स्व २ वृत्ति का स्वीकार करती हैं, उनके इस प्रवृत्ति का पुरुषार्थ यही कारण है, करण कोई भी कर्ता की तरफ से प्रेरित नहीं किया जाता ॥ ३१ ॥

करणानि इतिशेषः, यथाहि बहवःपुरुषाः शाक्तीक,याष्टीक,धानुष्क कार्पाणिकाः कृतसंकेताः पराबस्कन्दनाय प्रवृत्ताः, तत्रान्यतमस्याकूतमव-गम्यान्यतमः प्रवर्तते,प्रवर्तमानस्तु शाक्तीकः शक्तिमेवादत्ते नतु यष्ट्यादिकम्

एवं याष्टीकोपि यष्टिमेव न शक्त्यादिकं, तथाऽन्यतमस्य करणस्याऽऽकूतात् स्वकार्यकरणाभिमुख्याद् अन्यतमं करणं प्रवर्तते, तत्प्रवृत्तेश्च हेतुमत्वान्न वृत्तिसंकर प्रसंग इत्युक्तं-'स्वां स्वां प्रतिपद्यन्त" इति ।

अर्थ—कारिका में जो 'करणम्' ऐसा शब्द है, वहां 'करणानि' ऐसा शेष लगाना, (यथेति) जैसे व्यवहार में शक्ति, लाठी, धनुष, तलवार इत्यादि शस्त्रों के चलाने में निपुण लोग प्रथम संकेत (बिचारादि) करके शत्रु को उच्छेद करने के लिये प्रवृत्त हुये बाद प्रत्येक दूसरे का अभिप्राय जानकर अपने २ कार्य में प्रवृत्त होते हैं व जिसने शक्ति चलाने का अभ्यास किया है वह शक्ति का उपयोग करता है। लाठी वाला लाठी का, धनुष चलाने वाला धनुष का, तलवार वाला तलवार का—मारमार कर शत्रु को परास्त करने की चेष्टा करता है। परन्तु वे अपना २ हथियार छोड़कर अन्य अपरिचित शस्त्र नहीं लेते, उसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय भी एक दूसरे का अभिप्राय सूचक व्यापार देखकर उस तरह से प्रवृत्त होती है अर्थात् दूसरे का अभिप्राय सूचक व्यापार इन्द्रियों के व्यापार का निमित्त होने से वृत्तिसंकर नहीं होता, और उक्त दृष्टान्त के शस्त्र धारियों के सदृश प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ कार्य में ही प्रवृत्त होती हैं क्योंकि अन्य (इन्द्रिय) का कार्य करने की उन (परस्पर) में योग्यता ही नहीं रहती।

स्यादेतत्—याष्टीकादयश्चेतनत्वात्परस्पराकूतमवगम्य प्रवर्तन्त इतियुक्तं, करणानित्वचेतनानि, तस्मान्नैवं प्रवर्तितुमुत्सहन्ते, तेनैषामधिष्ठात्राकरणानां स्वरूपसामर्थ्योपयोगाभिज्ञेनभवितव्यम्, इत्यतआह—"पुरुषार्थ एवहेतुर्नकेन चित्कार्यते करणम्" इति।

अर्थ—यदि कोई यहां पर शंका करे कि (यष्टिकेति) शक्ति, लाठी, धनुष वगैरह का उपयोग करने वाले पुरुष सचेत न होने से, उनको परस्पर का गूढ़ अभिप्राय समझना शक्य है व एक एक के अभिप्राय का अनुमान जानकर अपने २ कार्य में प्रवृत्त होना यह योग्य है, परन्तु इन्द्रियां तो अचेतन हैं, तो वे परस्पर का अभिप्राय जानकर अपने २ कार्य में कैसे प्रवृत्त हो सकेंगी ? अर्थात् उन इन्द्रियों का स्वरूप, सामर्थ्य व उपयोग इनका जिसको

ज्ञान है ऐसा कोई भी तो सचेतन अधिष्ठाता होना चाहिये ? इस शंका का समाधान ऐसा है कि सचेतन पुरुषार्थ (पुरुष) यही उनके प्रवृत्ति का हेतु है।

भोगापवर्ग लक्षणः पुरुषार्थएवानागतावस्थः प्रवर्तयति करणानि, कृतमत्रतत्स्वरूपाभिज्ञेनकर्त्रा। एतच्च "वत्सविवृद्धि निमित्तम्" इत्यत्रोपपादयिष्यते ॥ ३१ ॥

अर्थ—आगे होने वाला भोग व अपवर्गरूप जो पुरुषार्थ यही इन्द्रियों का प्रेरक है, (कृतमत्रेति) और इस तरह का पुरुषार्थ ही इन्द्रियों को अपने २ कार्य में प्रवृत्त कराता है। अतः उनके स्वरूपादिकों को जानने वाले कर्त्ताओं को प्रथक सचेतन कल्पना करना व्यर्थ है अर्थात् करण किसी कर्त्ता से प्रेरित नहीं किया जाता, इसका आगे ५७ वीं कारिका में "वत्सविवृद्धिनिमित्तम्" इत्यादि से करणों के स्वरूपादिकों को जानने वाले कर्त्ता की प्रथक कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं, यह सिद्धान्त स्पष्ट करेंगे ॥ ३१ ॥

"न केनचित्कार्यते करणम्" इत्युक्तं, तत्र करणं विभज्यते"— "करणंत्रयोदशविधम्" इति।

अर्थ—कोई भी करण कर्त्ता के द्वारा स्व व्यापार में प्रवृत्त नहीं किया जाता, यह ऊपर कह चुके हैं, परन्तु करण कितने प्रकार के हैं तथा कौन २ से उनके कार्य हैं यह बतलाते हैं।

करणं त्रयोदशविधं तदाहरण धारण प्रकाशकरं।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यंच ॥ ३२ ॥

अर्थ—करणों के तेरह भेद हैं, आहरण, धारण, व प्रकाशन ये करणों के धर्म हैं तथा उन (धर्मों) के आहार्य, धार्य व प्रकाश्य इस तरह के दश कार्य हैं ॥ ३२ ॥

इन्द्रियाण्येकादश बुद्धिरहंकारश्चेति त्रयोदश प्रकारं करणम्, कारक विशेषः=करणं, न च व्यापारावेशं बिना कारकत्वम्, इति व्यापारावेशमाह "तदाहरणधारण प्रकाश करं" यथा-यथं तत्र कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि आहरन्ति=यथा स्वमुपाददते-स्वव्यापारेण व्याप्नुवन्तीति यावद्, बुद्ध्यहंकारमनांसि तु स्ववृत्त्या-प्राणादिलक्षणया धारयन्ति, बुद्धीन्द्रियाणि च प्रकाशयन्ति।

अर्थ—एकादश इन्द्रियां, बुद्धि तथा अहंकार मिल कर तेरह प्रकार के करण हुये हैं, करण यानी एक प्रकार का कारक, कारक यानी क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला पदार्थ, कारक ६ प्रकार के हैं (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण) कोई भी कारक व्यापार सम्बन्ध बिना नहीं रह सकता। अर्थात् करण का कारण के साथ व्यापार सम्बन्ध होना आवश्यक है। (इतीति) इन (करणों) का व्यापार कौन सा है, तो आहरण धारण, प्रकाशन, (यथा यथमिति) परन्तु ये तेरह प्रकार के करण तीनों (धर्मों का) परस्पर व्यापार नहीं कर सकते, इनके कार्य प्रथक २ हैं। वागादि कर्मेन्द्रियां आहरण करती हैं यानी अपनी २ योग्यतानुकूल अपने २ विषय का ग्रहण कर अपना २ व्यापार करती हुई अपने २ विषय के पास जा पहुँचाती हैं। बुद्धि, अहंकार व मन अपने वृत्ति से यानी देहादिकों को चालित करना इस व्यापार रूप प्राणसंज्ञक कार्य से धारण करते हैं, तथा बुद्धीन्द्रियां व्यक्त (प्रगट) करती है।

आहरण धारणादि क्रियाणां सकर्मकतयाकिं कर्म, कतिविधंच, इत्यतआह—"कार्यं च तस्य" इति, तस्य=त्रयोदशविधस्य करणस्य "दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च" कार्यम्, आहार्यं=व्याप्यं, कर्मेन्द्रियाणां बचनादानविहरणोत्सर्गानन्दा यथा यथं व्याप्याः, ते च दिव्यादिव्यतया दशेत्याहार्यंदशधा, एवं धार्यमप्यन्तः करणत्रयस्य प्राणादिलक्षणयावृत्या शरीरं, तच्चपार्थिवादि पाञ्चभौतिकं, शब्दादीनां पञ्चानां समूहः पृथिवीति ते च पञ्च दिव्यादिव्यतया दशेतिधार्यमपिदशधा, एवं बुद्धीन्द्रियाणां शब्द स्पर्श रूप रस गन्धा यथायथं व्याप्याः, ते च दिव्यादिव्यतया दशेति प्रकाश्यमपि दशधेति ॥ ३२ ॥

अर्थ—परन्तु आहरण, धारण व प्रकाशन ये क्रिया सकर्मक होने से उनके कर्म कौन से तथा वे (कर्म) कितने प्रकार के हैं यह बतलाना चाहते हैं, (तस्येति) उन त्रयोदशविधि करणों के आहार्य, धार्य, प्रकाश्य यही कर्म हैं वे भी प्रत्येक दश २ प्रकार के हैं, आहार्य=व्याप्य, व्याप्य यानी क्रिया फल से प्राप्य ऐसा कर्म, (कर्मेन्द्रियाणामिति) वागादि कर्मेन्द्रियों के कर्म बचन, आदान (लेना), बिहरण (चलना), त्याग करना तथा आनन्द

लेना ये व्याप्य कर्म हैं, वे कर्म दिव्य अदिव्य (लौकिक अलौकिक) भेद से दश प्रकार के हैं। इसीसे आहार्य धार्यादि कर्म दश २ प्रकार के हो गये हैं। क्योंकि अन्तःकरण त्रयों के, प्राणादिरूप व्यापार के योग से शरीर धार्य है। (तच्चेति) वह शरीर पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय, आकाशीय इस तरह पांच प्रकार का है, प्रत्येक शरीर पञ्चभौतिक हैं, कारक शब्दादि तन्मात्राओं के समूह को ही पृथिवी अप इत्यादि कहते हैं। (तेचेति) ये पांच प्रकार के शरीर दिव्य तथा अदिव्य भेद से दश २ प्रकार के हैं। (एवमिति) बुद्धीन्द्रि के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये व्याप्य हैं तथा वे भी योग्यतानुसार दिव्या-दिव्य भेद से प्रकाश्य भी दश प्रकार का है ॥ ३२ ॥

त्रयोदशविधेकरणेऽवान्तर विभागं करोति—अन्तःकरणम्" इति।

अर्थ—इन त्रयोदश करणों के अवान्तर भेद कितने व कौन से हैं। उनको कहते हैं।

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधावाह्यं त्रयस्यविषयाख्यं।
साम्प्रतकालं वाह्यंत्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—अन्तःकरण तीन प्रकार का है। दश प्रकार के वाह्यकरण तीन प्रकार के अन्तःकरणों का द्वारहै, वाह्य करण तात्कालिक तथा आभ्यंतरिक (अन्तःकरण) त्रिकाल व्यापार करने वाले हैं।

"अन्तःकरणं त्रिविधं" बुद्धिरहंकारोमन इति, शरीराभ्यन्तर वर्तित्वादन्तः करणं, दशधावाह्यं करणं "त्रयस्य" अन्तः करणस्य "विषयाख्यं" विषयमाख्याति=विषयसंकल्पाभिमानाध्यवसायेषु कर्तव्येषु द्वारी भवति, तत्रबुद्धीन्द्रियाण्यालोचनेन, कर्मेन्द्रियाणितु यथास्वंव्यापारेण।

अर्थ—बुद्धी, अहंकार व मन ऐसे अन्तःकरण तीन प्रकार का है। ये शरीर के भीतर रहने के कारण इनको अन्तःकरण कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय व पांच कर्मेन्द्रिय मिलाकर जो दश प्रकार के वाह्य करण हैं वे इन त्रिविध अन्तःकरणों को विषय दिखलाया करते हैं। (विषयेति) यानी विषय के विषय में संकल्प अभिमान (अध्यवसाय) करना हुआ तो ये आगे का विषय ऐसा न ऐसा है, यह बतलाने में वे द्वार साधन होतेहै। (तत्रेति) बुद्धीन्द्रिय

विषय के आलोचन से तथा कर्मेन्द्रियां अपने २ योग्यतानुकूल व्यापार के द्वारा अन्तःकरणों के संकल्पादि कार्यों को सहायता करते हैं।

बाह्यान्तःकरणयो विशेषान्तरमाह—"साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरंकरणम्" इति, साम्प्रत कालं=वर्तमानकालं बाह्यं=इन्द्रियम् वर्तमानसमीपमनागतमतीतमपिवर्तमानम् अतोवागपि वर्तमानकाल विषया भवति। "त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्" तद्यथा—नदीपूरभेदादभूद्-वृष्टिर्, अस्तिधूमादग्निरिह नगनिकुञ्जे, असत्युपघातके पिपीलिकान्संचरणाद्भविष्यतिवृष्टिरिति, तदनुकूलाश्च संकल्पाभिमानाध्यवसायाभवन्ति।

अर्थ—इन बाह्यान्तर करणों में एक और विशेष है। वह बतलाते हैं (साम्प्रतेति) बाह्यइन्द्रियां केवल उस काल में सम्मुखीन वस्तु के विषय में ही व्यापार कर सकती हैं। इसी से उनको साम्प्रत काल यानी वर्तमान काल ही में व्यवहार करने वाली ऐसा कहा है। इनमें वाग्नाम का जो बोलने का साधन है वह नेत्रादिवत् केवल वर्तमान काल ही में व्यवहार न करके भूत भविष्य में भी कार्य कर सकती है। अतः वर्तमान काल से सम्बन्ध रखने वाले भूत भविष्य काल को भी वर्त्तमान समझना, इससे 'वाग्' इन्द्रिय विषय में दोष न होगा। अब अन्तःकरण तीनों काल में कैसे २ व्यवहार करते हैं सो कहते हैं। (तद्यथेति) जैसे—कल की अपेक्षा आज नदी में जल अधिक है ऐसा देखकर ऊपर की तरफ कहीं जल बर्षा अधिक हुई है ऐसा भूतकालिक बिषयक अनुमान होता है, (असतीति) बिना किसी उपद्रव के चीटियां अण्डे लेकर लैन से जा रही हैं, अतः शीघ्र ही जल वर्षा होवेगी, ऐसा भविष्य में होने वाली वृष्टि का ज्ञान होता है। (तदनुकूलश्चेति) वैसे ही उन २ अनुमानानुकूल अन्तः करणों के संकल्प अभिमान व अध्यवसाय भी हुआ करते हैं।

कालश्चवैशेषिकाभिमत एकोनाऽनागतादि व्यव्यवहारभेदं प्रवर्तयतुमर्हतीति, तस्मादयं यैरुपाधिभेदैरनागतादि व्यवहारभेदं प्रतिपद्यते सन्तु त एवोपाधयोऽनागतादिव्यवहारहेतवः कृतमन्तर्गडुनाकालेनेति सांख्याचार्याः। तस्मान्नकालरूपतत्वान्तराभ्युपगम इति॥ ३३॥

अर्थ—(कालश्चेति) काल यह भिन्न तत्व है ऐसा यदि कहें तो हमको मान्य नहीं है, क्योंकि काल यह एक द्रव्य है तथा वह भविष्यादि अबान्तर भेदों को प्रवर्तन करने में समर्थ होने से वस्तुतः एक ही है ऐसा वैशेषिक मानते हैं, परन्तु काल जब एक है, तो उसके भूत, भविष्यादि भेद व्यवहार में कैसे होते हैं, ऐसा प्रश्न उनसे करने पर 'भिन्न २ उपाधि से काल के तीन भेद होते हैं' ऐसा उत्तर देते हैं। अर्थात्—भूत, वर्तमान, भविष्य ये काल के नैसर्गिक भेद न होकर औपाधिक हैं, ऐसा वैशेषिकों का कहना है, परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि, जिस उपाधि भेद से काल के तीन भेद होते हैं, वे उपाधियां हीं स्वतः भूतादि भेदों के कारण हैं, ऐसा ही कहें तो कार्य होजाता है, जिसके व्यवहार को प्रत्यक्ष रीति से कुछ भी उपयोग नहीं होता ऐसे काल की और भी कल्पना करने में क्या लाभ है? सारांश–इसीसे सांख्याचार्य काल संज्ञक भिन्न तत्व को नहीं मानते ॥ ३३ ॥

साम्प्रतविषयाणां बाह्येन्द्रियाणांविषयं विवेचयति—

केवल वर्तमान काल में ही व्यापार करने वाले वाह्येन्द्रियों के विषयका विवेचन करते हैं।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषांपञ्चविशेषाविशेष विषयाणि।
वाग्भवति शब्द विषया शेषाणितु पञ्चविषयाणि ॥३४॥

अर्थ—दश वाह्येन्द्रियों में पांच बुद्धीन्द्रियों के विशेष तथा अविशेष ये विषय हैं, वाणी का शब्द विषय है, शेष कर्मेन्द्रियों के पांच विषय हैं।

'बुद्धीन्द्रियाणि' इति। 'बुद्धीन्द्रियाणि तेषां' दशानामिन्द्रियाणां मध्ये 'पञ्चविशेषाबिशेष विषयाणि'=विशेषाः=स्थूलाःशब्दादयः=शान्तघोर मूढ़रूपाः पृथिव्यादिरूपाः, अविशेषाः=तन्मात्राणि=सूक्ष्माः शब्दादयः, मात्रशब्देन भूतभावमपाकरोति, विशेषाश्चाविशेषाश्च=विशेषाविशेषाः, तएव विषया येषां बुद्धीन्द्रियाणां तानि तथोक्तानि'।

अर्थ—पांच ज्ञानेन्द्रियां व पांच कर्मेन्द्रियां मिलकर दश इन्द्रियां होती हैं, यह ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, इन दशों में बुद्धीन्द्रियां नाम की जो पांच इन्द्रियां हैं, वे विशेष व अविशेष भेदसे दो प्रकार कीहैं, विशेष याने स्थूल,शब्द

स्पर्श इत्यादि इनके भी फिर तीन-शान्त, घोर व मूढ़ ऐसे भेद हैं, वे स्थूल विषय पृथ्वी, जल इत्यादि भूतरूप से रहते हैं, अविशेष याने तन्मात्रायें अर्थात सूक्ष्म शब्दादि, यहां पर मात्र शब्द कहने से स्थूल विषयों का दूरीकरण किया है, सारांश पांचो ज्ञानेन्द्रियों के स्थूल तथा सूक्ष्म विषय हैं।

तत्रोर्ध्वस्रोतसां योगिनां च श्रोत्रं शब्द तन्मात्र विषयं स्थूल शब्द विषयं च, अस्मदादीनां तु स्थूल शब्द विषयमेव। एवं तेषां त्वक् स्थूल सूक्ष्म स्पर्श विषया, अस्मदादीनां तु स्थूल स्पर्श विषयैव। एवं चक्षुरादयोपि तेषामस्मदादीनां च रूपादिषु सूक्ष्म विषयेषु द्रष्टव्याः।

अर्थ—परन्तु उर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी) योगी जो रहते हैं, उनकी श्रवणेन्द्रिय सूक्ष्म तन्मात्रा व स्थूल शब्द का भी ग्रहण करती है और हमारे सरीखे क्षुद्रजनों की श्रवणेन्द्रिय केवल स्थूल शब्द का ही ग्रहण करती है। (एवमिति) वैसे ही उक्त योगियों की त्वगिन्द्रिय स्थूल व सूक्ष्म ऐसे दोनों प्रकार के स्पर्श ग्रहण करती हैं, परन्तु हमारे त्वगिन्द्रिय केवल स्थूल स्पर्श का ग्रहण करती है, वैसे ही उनके हमारे चक्षुरादि इन्द्रियों के विषय ग्रहण सामर्थ्य में भी ऐसाही स्थूल व सूक्ष्म का भेद है।

एवं कर्मेन्द्रियेषु मध्ये 'वाग्भवति शब्द विषया'=स्थूल शब्द विषया-तद्धेतुत्वात् न तु शब्द तन्मात्रस्यहेतुः, तस्याऽऽहंकारि कत्वेन वागिन्द्रियेण सहैककारणकत्वात्। 'शेषाणितु'=चत्वारि=पायूपस्थ पाणिपादाख्यानि 'पञ्चविषयाणि' पाण्याद्या हार्याणां घटादीनां पञ्चशब्दाद्यात्मक त्वादिति।

अर्थ—कर्मेन्द्रियों में वाग् नामक जो इन्द्रिय है, उसका स्थूल शब्द यह विषय है, क्योंकि वह इन्द्रिय स्थूल शब्द का कारण है, कुछ शब्द तन्मात्रा का कारण नहीं, यह किस तरहहै वह बताते हैं-शब्द तन्मात्रा का कारण अहंकार है, तथा वागिन्द्रिय भी अहंकार से होती है, इस कारण से शब्द तन्मात्रा तथा वागिन्द्रिय इनका कारण एक होने से वाक् सूक्ष्म शब्द का कारण नहीं हो सकती और ऐसा होने ही से सूक्ष्म शब्द यह वागिन्द्रिय का विषय नहीं है, शेष बची ४ कर्मेन्द्रियां पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, इनके विषय पांच हैं, कारण हाथ, पांव इत्यादिकों के द्वारा आहार्य जो घटादि पदार्थ वही 'पंच विषय' इनमें के 'पंच' शब्द का अर्थ है।

साम्प्रतंत्रयोदशसु करणेषु केषाञ्चिद्गुणभावं, केषाञ्चित्प्रधानभावं सहेतुकमाह—

अर्थ—अब इन तेरह इन्द्रियों में मुख्य कौनसी व गौण कौनसी हैं और यह भेद क्यों है ? सो कहते हैं ।

सान्तःकरणाबुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिससे अन्तःकरणके साथबुद्धि सब विषयों में प्रवेश करती है, (उस कारण से) त्रिविध अन्तःकरण ये द्वारि तथा बाकी के बाह्येन्द्रिय ये द्वार हैं ॥ ३५ ॥

"सान्तःकरणा" इति । "द्वारि"—प्रधानं, "शेषाणि" करणानि बाह्येन्द्रियाणि "द्वाराणि" गौणानि, तैरुपनीतं 'सर्वं विषयं" समनोऽहंकारा "बुद्धिः" "तस्माद्" "अवगाहते" अध्यवस्यति "तस्माद्" वाह्येन्द्रियाणिद्वाराणि, द्वारवती च सान्तःकरणा बुद्धि रिति ॥ ३५ ॥

अर्थ—द्वारि याने प्रधान-मुख्य तथा दशो वाह्य इन्द्रियां द्वार याने गौण हैं, इन वाह्येन्द्रियों के द्वारा पास में लाये हुये सव विषयों का निश्चय, बुद्धि किया करती है, जैसे यह अमुक, अमुक, इत्यादि निश्चय करना यही उसका उसमें प्रवेश है, इसीलिये अंतःकरण के साथ बुद्धिद्वार वाली बशेष इन्द्रियां द्वार संज्ञक कही गई हैं ।

नकेवलं बाह्येन्द्रियाण्यपेक्ष्य प्रधानं बुद्धिः, अपितु ये अप्यहंकार मनसी द्वाराणि ते अप्यपेक्ष्य बुद्धिः प्रधान मित्याह—

अर्थ—बुद्धि यह केवल वाह्येन्द्रियों की ही अपेक्षा श्रेष्ठ है ऐसा नहीं वह तो अहंकार, मन, इनके अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, क्योंकि अहंकार तथा मन ये दोनों अन्तर्हेतु बाह्य करणों से श्रेष्ठ हैं, तथा इसीसे वे इनकी अपेक्षा से प्रधान है । यद्यपि यह सत्य है, तथापि बुद्धि इनसे भी श्रेष्ठ (मुख्य) है यही बतलाते हैं ।

एते प्रदीपकल्पाः परस्पर विलक्षण गुण विशेषाः, ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

बाह्येन्द्रियां, मन, तथा अहंकार ये गुणों के विकार परस्पर यद्यपि विलक्षण तथा इसीसे परस्पर विरोध करने वाले हैं परन्तु वे दीपक (दिया) के सदृश हैं, इसीसे वे पुरुष के सम्पूर्ण विषयों को प्रकाशित करके उनको बुद्धि में लाकर छोड़ देते हैं ।

'एत' इति । यथाहि ग्रामाध्यक्षाः कौटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छन्ति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपतये, तथा बाह्येन्द्रियाणि आलोच्यमनसे समर्पयन्ति, मनश्च संकल्प्याहंकाराय, अहंकारश्चाभिमत्य सर्वाध्यक्षभूतायां बुद्धौ । तदिदमुक्तं='पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौप्रयच्छन्ति' इति । बाह्येन्द्रियमनोऽहंकाराश्च='गुणविशेषाः'=गुणानां=सत्वरजस्तमसां विकाराः ते तुपरस्पर विरोधशीला अपि पुरुषार्थेन भोगापवर्ग रूपेणैक वाक्यतां नीताः–यथा वर्तितैल वह्नयः सन्तमसापनयेन रूप प्रकाशाय मिलिताः प्रदीपे एवम् 'एतेगुण विशेषा' इतियोजना ॥३६॥

अर्थ—जैसे गांव का मालिक ग्राम वासी लोगों से कर (पैसा) वसूल करके सब पैसा तहसीलदार के पास भेज देता है, तहसीलदार तहसील के गांवों का सब पैसा बसूल करके जिलेदार के पास भेज देता है, जिलेदार सब तहसीलों से लेकर इलाकेदार के पास तथा वह सब तहसीलों वगैरह का पैसा खुद राजा साहब के पास भेज देता है, (तथेति) वैसे ही वाह्य इन्द्रियां विषयों का आलोचन करके उन (विषयों) को मन के ताबे में कर देती हैं । (मन श्चेति) मन उनके विषय में संकल्प करता है व पीछे अहंकार के स्वाधीन कर देता है, अहंकार उनके विषय में 'यह मेराहै' ऐसा अभिमानकरके सर्वाध्यक्ष जो बुद्धि उसके ताबे में दे देता है, प्रत्येक प्राणी प्रत्येक विषय का जो ग्रहण करता है, उसका सर्वत्र ऐसा ही प्रकार है, इसीलिये मूल कारिका में कहा है कि पुरुष के सब विषयों को प्रकाशित करके उनको बुद्धि में लाकर छोड़ देते है, (वाह्येन्द्रियेति) वाह्य इन्द्रियां मन तथा अहंकार इनको 'मूल' का० में 'गुण विशेष, ऐसा कहा है, इसका कारण यहहै कि वे सत्व,रज तथा तम इन त्रिगुणों

के विशेष याने विकार हैं, इनके प्रत्येक कार्य तथा लक्षण भिन्न २ होने से वे परस्पर मित्रत्व भाव से कभी भी नहीं रहते, यह युक्त ही है। अर्थात् परस्पर विरोधी रहना यह उनका स्वभाव है। (अपीति) परन्तु पुरुषार्थ जो भोग तथा मोक्ष इनके योग से उनकी संगतिता होती है। इस विषय में एक दृष्टान्त दिया है जैसे-तेल, बत्ती तथा अग्नि ये तीनों परस्पर विलक्षण तथा आपस में विरोध करने वाले हैं, क्योंकि तेल बत्ती में स्निग्धता लाता है और अग्नि उन दोनों को खाक बना डालती है, यह प्रसिद्ध है। परन्तु घनान्धकार को नाश करना हुआ तो वे उतने समयके लिये मिलकर दीपक होकर वस्तु को प्रकाशित करते हैं। (एवम्) इसी तरह से ये गुणों के विकार यद्यपि परस्पर विलक्षण व विरोधशील हैं तथापि पुरुष को भोग तथा मोक्ष देनेके लिये आपस में का (युक्ति द्वारा) विरोध दूर करके (उतने ही समय के लिये क्यों न हो) एक संग हो जाते हैं।

कस्मात्पुनर्बुद्धौ प्रयच्छन्ति ? ननु बुद्धिरहंकाराय द्वारिणे मनसे वेत्यतआह—

अर्थ—परन्तु इस पर यदि कोई यह कहे कि मन तथा अहंकार ये विषयोंको बुद्धिके स्वाधीन करतेहैं, ऐसा जाननेका कारण क्या? द्वारि अहंकार तथा मन इन्हीं को बुद्धि विषय अर्पण करती है, ऐसा कहें तो क्या होगा? इसका उत्तर देते हैं।

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधान पुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७॥

अर्थ—यस्मात् बुद्धि पुरुषके सब विषयोपभोगका साधन कर देतीहै, तथा प्रधान और पुरुष इन दोनों में का सूक्ष्म विशेष व्यक्त करके दिखाती है, तस्मात् वही प्रधान है।

'सर्वम्' इति। पुरुषार्थस्य प्रयोजकत्वात्तस्य यत्साक्षात्साधनं तत् प्रधानं, बुद्धिश्चास्य साक्षात्साधनं, तस्मात्सैवप्रधानं यथा सर्वाध्यक्षः साक्षाद्राजार्थ साधन तया प्रधानम्। इतरेतु ग्रामाध्यक्षादयस्तंप्रतिगुणभूताः।

बुद्धिर्हिपुरुषसन्निधानात्तच्छायापत्त्या तद्रूपेवसर्वविषयोपभोगं "पुरुषस्यसाधयति"=सुखदुःखानुभवो हि भोगः, सच बुद्धौ, बुद्धिश्च पुरुषरूपेवेति, साचपुरुषमुपभोजयति–यथाऽर्थालोचन संङ्कल्पाभिमानाश्चतत्तद्रूप परिणामेन बुद्धावुपसंक्रान्ताः, तर्थेन्द्रिय व्यापारा अपि बुद्धि रेवस्वव्यापारेण= अध्यवसायेन सहैकव्यापारी भवन्ति, यथा वा—स्वसैन्येन सह ग्रामाध्यक्षादिसैन्यं सर्वाध्यक्षस्य भवन्ति, "सर्वं" शब्दादिकं "प्रति" य उपभोगः पुरुषस्य तं साधयति।

अर्थ—पुरुषार्थ यह सब व्यवहारों का साधन है, इससे उसका जो साक्षात् साधन याने पुरुषार्थ को प्रत्यक्ष सिद्ध करने वाला प्रधान है। (बुद्धीति) बुद्धि यह पुरुषार्थ का प्रत्यक्ष साधन है इससे वही प्रधान (मुख्य) है, (यथेति) जैसे पहले दिया गया दृष्टान्त में इलाकेदार साक्षात् राजा के पास द्रव्य पहुँचाने वाला होने के कारण वही उसका प्रधान है और इतर (तहसीलदार) उसके मान से कम योग्यता के कारण गौण हैं, वैसे ही यहां दार्ष्टान्तिक में बुद्धि, पुरुष को साक्षात् अर्थ देने वाली होने से प्रधान है तथा इतर (अहंकारादि) गौण हैं, परन्तु बुद्धि भी पुरुष को साक्षात् अर्थ केसे पहुँचाती है सो देखो, (बुद्धिर्हीति) पुरुष सन्निध होने से बुद्धि में आत्मा का प्रतिविम्ब पड़ता है तथा उसीसे वह आत्म रूप हुये सदृश मालूम पड़ती है, बाद आत्मप्रतिविम्ब से आत्म रूप हुई वह बुद्धि पुरुष को सब विषयों का उपभोग देती है, सुख तथा दुख का अनुभव होना यही भोग है, इस तरह का यह अनुभवरूपी भोग बुद्धि ही में रहता है, कारण पुरुष के सान्निध्यता से पुरुषवत् भासित होती है। (साचेति) इसीसे वह भोग का साधन है, यह बुद्धि ही पुरुष से विषय भोगवाती है याने पुरुष का संयोग होने ही से पुरुष में भोक्तृत्व आता है, (यथाऽर्थेति) विषय आलोचन करना, उसके विषय में संकल्प करना, तथा उसमें अभिमान उत्पन्न करना ये तीनों क्रियायें जैसे आलोचनादि परिणामों को प्राप्त होकर बुद्धि में इकट्ठा होती हैं, (बुद्धिरुप होती हैं,) बुद्धि से वे भिन्न हैं ऐसा नहीं मालूम पड़ता,

वैसे ही इन्द्रियों के व्यापार भी बुद्धि के अध्यवसायादि व्यापार सहित उसी के व्यापार होते हैं, यह बात अच्छी तरह समझने के लिये पूर्वोक्त दृष्टान्त द्वारा कहते हैं, (यथेति) जैसे राजा को शत्रु से लड़ने का मौका आने पर प्रधान को सैन्य इकट्ठा करने के लिये आज्ञा देता है, तथा प्रधान अपने हाथ से नीचे के तहसीलदारादि वगैरह को आज्ञा देता है फिर उनसब अधिकारियों के सहित सम्पूर्ण सैन्य प्रधान का होता है, वाद वह सम्पूर्ण सैन्य पर अधिकार चला शत्रु पर चढ़ाई करता है, इस दृष्टान्तानुसार ही इंद्रियादिकों के जो व्यापार वे सब, प्रधान जो बुद्धि उसीके व्यापार होते हैं। (सर्व समिति) इस तरह शब्दादि सब विषयों का भोग पुरुष की बुद्धि ही साधनकर देती है, पश्चात् यही बुद्धि, प्रधान व पुरुष में भेद पैदा करती है।

ननु पुरुषस्य सर्वविषयोपभोगसंपादिका यदि बुद्धिः—तर्हि निर्मोक्षः, इत्यत आह—"सैवच" इति। पश्चात् प्रधान पुरुषयोरन्तरं=विशेषं "विशिनष्टि" करोति—यथौदनपाकंपचतीति। अनेनापवर्गपुरुषार्थोदर्शितः। ननु प्रधान पुरुषयोरन्तरस्य कृतकत्वादनित्यत्वं तत्कृतस्य मोक्षस्यानित्यत्वं स्याद् इत्यत आह—"सूक्ष्मम्" इति। "सूक्ष्मं"=दुर्लक्ष्यं तदन्तरमित्यर्थः। प्रधानं सविकार मन्यद्, अहमन्य, इतिविद्यमानमेवान्तरमविवेकेनाविद्यमानमिव बुद्धिर्बोधयति नतु करोति येनानित्यत्वमित्यर्थः। करणं च प्रतिपादनम्॥ ३७॥

अर्थ—(नन्विति) यदि पुरुष के सब विषयोपभोग की सम्पादन करने वाली बुद्धि ही है तो फिर मोक्ष नहीं होना चाहिये, इसी के निराकरणार्थ मूल कारिका में "सैवच" यह शब्द दिया है। अर्थात् बुद्धि यह विषयोपभोग भी सम्पादन करती है तथा पश्चात् प्रधान और पुरुष में अन्तर (भेद) भी कराती है, इससे पुरुष को मोक्षदात्री भी वही है, यह दिखाया है, (ननु) यहां पुनः शंका होती है कि यदि बुद्धि ही पुरुष व प्रकृति का भेद करती है तो उस भेद कृतक होने से अनित्य होगी, कृतक याने कृत्रिम, किसी द्वारा किया गया और कृतक वस्तु अनित्य होती है, यह नियम है, अतः मोक्ष यह बुद्धिकृत कार्य होने से अनित्य है, इसका समाधान कारिका में 'सूक्ष्मम्'

इस विशेषण से किया है, इसका अर्थ यह है कि प्रकृति तथा पुरुष का भेद वस्तुतः विद्यमान ही है परन्तु वह भेद अविद्या के कारण नहीं के सदृश भासित होता है। इसीसे "सूक्ष्मम्" याने दुर्लक्ष्यम् ऐसा कहा है और ऊपर जो कृतकत्व का दोष दिया है, उसका समाधान ऐसा है कि सविकार प्रकृति अन्य है और 'मैं' (पुरुष) अन्य हूं, इस विद्यमान 'जो कि अविद्या वश नहीं के तुल्य भासित होता है' भेद को बोधित करती है, अर्थात् दर्शाती है, न कि भेद करती है, सारांश अज्ञानवश न प्रतीत होने वाला प्रकृति व पुरुष का नित्य भेद बुद्धि व्यक्त करती है, इसके भेद ज्ञानसे (न कि कृतक ज्ञान से) प्राप्त मोक्ष नित्य है। (करणमिति) इस प्रतिपादन से बुद्धि मोक्ष का करण कैसे होती है, यह दर्शाया है।

तदेवं करणानि विभज्य विशेषाविशेषान् विभजते—

अर्थ—इस तरह करणों के विभाग दिखाकर अब पूर्वोक्त विशेषाविशेष के भाग दिखाते हैं।

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एतेस्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

अर्थ—तन्मात्रायें ये ही अविशेष हैं, उन पांच तन्मात्राओं से पांच भूत हुये, ये ही विशेष हैं, ऐसा कहा है। कारण उनमें प्रत्येक भूत शान्त, घोर व मूढ़ हैं।

शब्दादि तन्मात्राणि, सूक्ष्माणि, न चैषां शान्तत्वादिरस्त्युपभोग-योग्यो विशेष इति मात्रशब्दार्थः। अविशेषानुक्त्वा विशेषान्वक्तुमुत्पत्ति मेषामाह–'तेभ्यः'=तन्मात्रेभ्योयथासंख्यमेकद्वित्रिचतुः पंचभ्यो 'भूतानि' आकाशानिलानल सलिलावनि रूपाणि 'पञ्च'।

अर्थ—शब्दादि तन्मात्रायें सूक्ष्म हैं, इनमें शान्त, घोर व मूढ़ इस नाम का उपभोग के योग्य ऐसा कोई भी विशेष नहीं है, 'तन्मात्र' यहां जो मात्र शब्द योजित किया गया है, वह यही अर्थ सूचित कराता है, क्योंकि 'तत् शब्द से भूतों के सूक्ष्म रूप का ज्ञान होता है, तथा मात्र शब्द से शान्तादि विकार शून्य अवस्था को सूचित करता है, ये शांतादि विकार पूर्वोक्त विशेष तन्मात्राओं में नहीं रहते, इसी से उनको अविशेष कहा है।

'पञ्चभ्यः'=तन्मात्रेभ्योऽस्त्वेषां भूतानमुत्पत्तिः, विशेषत्वे किमायातम् ? इत्यतआह-'एतेस्मृताविशेषा' इति, कुतः ? 'शान्ता घोराश्च मूढ़ाश्च' चकार एकोहेतौ- द्वितीयः समुच्चये । यस्मादाकाशादिषु स्थूलेषु सत्वप्रधानतया केचिच्छान्ताः=सुखाः=प्रसन्नाः=लघवः, कचिद्रजः प्रधानतया घोराः=दुःखाः=अनवस्थिताः, केचित्तमःप्रधानतया मूढ़ाः=विषण्णाः=गुरवः। तेऽमी परस्पर व्यावृत्ता अनुभूयमाना 'विशेषा' इति, 'स्थूला' इति चोच्यन्ते, तन्मात्राणि त्वस्मदादिभिः परस्पर व्यावृत्तानि नानुभूयन्ते इति 'अविशेषा' इति 'सूक्ष्मा' इति चोच्यन्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ—अब विशेष कौन से हैं, यह बतलाने के उद्देश्य से प्रथम उनकी उत्पत्ति कैसे होती है यह बतलाते हैं-(पञ्चभ्यः) पांच तन्मात्राओं से-आकाश वायु, तेज, जल, पृथ्वी ऐसे पांच भूत उत्पन्न हुये, इन पंच भूतों का क्रम शब्द-तन्मात्र,स्पर्शतन्मात्र,रूपतन्मात्र,रसतन्मात्र,गन्धतन्मात्र ऐसा तन्मात्राओं का क्रम होने से आकाशादि भूत भी उसी से हुये हैं, यह पांच भूत विशेष कहे गये हैं। (कुतः) कारण ये शान्त, घोर व मूढ़ हैं, कारिका में जो दो चकार कहे गये हैं, उनमें से एक कारणार्थ व दूसरा समुच्चयार्थ वाची है। ऐसा टीकाकार लिखते हैं, (यस्मादिति) आकाशादि स्थूल भूतों में यदि कुछ अंश में सत्व गुण प्रधान रहता है, तो वे शान्त याने प्रसन्न, सुखकारी, हलके रहते हैं, (केचिदिति) कुछ अंश रजोगुण प्रधान होने से वह घोर याने दुःखद तथा अनवस्थित (सर्वदा एक सरीखा न रहने वाला) रहते हैं,(केचिदिति) कुछ अंश तमोगुण प्रधान होने से मूढ़ याने विषण्ण, अति जड़ रहते हैं (तेऽमीति) सारांश इन परस्पर भिन्न रहने वाले तथा अनुभव में आने वाले भूतों के शान्तादि भाग को विशेष व स्थून ऐसा कहा है, (तन्मात्राणीति) तन्मात्रायें भी परस्पर विलक्षण हैं सही, परन्तु वे हमारे सदृश स्थूल दृष्टीवाले पुरुषों को देख नहीं पड़तीं, केवल उर्द्ध्वस्रोतस योगियों को उनका प्रत्यक्ष होता है, सामान्य जनों को प्रयत्न बिना प्रत्यक्ष अशक्य है इसीसे उनको 'अविशेष, तथा सूक्ष्म कहते हैं।

विशेषाणामवान्तर विशेषमाह—

अर्थ—पीछे जो विशेष कह गये उसीके आवान्तर भेद कहते हैं ।

सूक्ष्मामाता पितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाःस्युः ।

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

महाभूतों के साथ सूक्ष्म देह तथा माता पिता से (उत्पन्न) हुआ स्थूल देह ऐसे तीन प्रकार के विशेष हैं, उनमें से सूक्ष्म देह नित्य है तथा माता पिता से प्राप्त हुआ स्थूल देह नाशवान है ।

"त्रिधाविशेषाःस्युः" । तान् विशेष प्रकारानाह—"सूक्ष्मा" इत्यादि । सूक्ष्मदेहाः परिकल्पिताः, माता पितृजाः" षाट्कौशिकाः—तत्र मातृतो लोमलोहित मांसानि–पितृतः स्नाय्वस्थिमज्जान इति षट्को गणः, 'प्रकृष्टानि=महान्तिभूतानि'=प्रभूतानि तैः "सह" । सूक्ष्म शरीर मेकोविशेषः, मातृ पितृजोद्वतीयः, महाभूतानि तृतीयः । महाभूतवर्गेच घटादीनां निवेश इति । सूक्ष्म मातापितृजयोर्देहयोर्विशेषमाह "सूक्ष्माः" 'तेषां"=विशेषाणांमध्ये ये ते "नियताः"=नित्याः, "मातापितृजास्" तु "निवर्तन्ते"—रसान्ता वा भस्मान्ता वा विडन्ता वेति ।

अर्थ—पूर्वोक्त विशेष तीन प्रकार के हैं, वे इस तरह जैसे सूक्ष्म देह, परन्तु सूक्ष्म देह प्रत्यक्ष नहीं होता, जब उनका प्रत्यक्ष ही नहीं होता तो उनकी देहों मे गणना क्योंकि ? तो कहते हैं कि—अनुमान द्वारा उसका ज्ञान होता है, जैसे इस जन्म में किये हुये पुण्य या पाप का फल सूक्ष्म देह बिना भोग नहीं सकते जो २ भोग जिस जिस देह से सम्पादन किया जाता है, वह उसी २ देह को भोगना पड़ता है, क्योंकि एक का किया हुआ पाप दूसरे आदमी भोग करे, यह सरासर अन्यायहै, ऐसा सबस्वीकार करेंगे । तथा परलोक में मिलने वाले फल स्थूल देह से नहीं भोगा जाता यह भी स्पष्ट है, शुभ कर्म फल बिना भोगे मृतमनुष्यका कर्मभी उसी समय नष्ट हो जाताहै, यदिऐसा कहें तो भी यह अन्याय ही है, अतः परलोकगामी तथा वहां स्वकर्म भोगने वाला सूक्ष्म देह मानना ही योग्य है, (माता पितृजाः) माता पिता से उत्पन्न हुआ छः कोशयुक्त यह स्थूल शरीर दूसरा भेद है, वे षट् कोशकौन २ से हैं, सो

कहतेहैं, लोम, रक्त, मांस ये तीन कोश माताके शोणित (रज)से होतेहैं। (पितृतः) और मेद, अस्थि तथा मज्जा ये तीन कोष पिता के वीर्य से होते हैं, रक्तादि षट् धातुओं का पृथक २ आवरण हो कोश संज्ञक है। (प्रकृष्टानि) प्रकृष्ट याने महाभूत आकाशादि महाभूतोंके सहित विशेषके तीन प्रकार होते हैं, याने सूक्ष्म शरीर यह एक विशेष तथा माता पिता से उत्पन्न हुआ स्थूल शरीर यह दूसरा विशेष, व आकाशादि महाभूत यह तीसरा विशेष है, महाभूतों के वर्ग ही में घट पट मठादि स्थूल भौतिकोंका समावेश होता है। (सूक्ष्म माता पितृ ज्योरिति) सूक्ष्म देह तथा माता पिता से उत्पन्न हुआ स्थूल देह इन दोनों में क्या भेद है, सो कहते हैं, कि अब तक तीन प्रकार के विशेष कहे हैं, उनमें जो सूक्ष्म देह है, वह नित्य है। अर्थात् मोक्ष पर्यन्त रहने वाला है, इसका स्पष्ट आगे करेंगे, तथा माता पिता से प्राप्त हुये देहों की आगे लिखी हुई व्यवस्था होती है। अर्थात् यह स्थूल देह नष्ट हो जाता है, नष्ट हुये बाद जो जमीन में गाड़े जाते हैं वे सड़ कर मट्टी हो जाते हैं, जिनको जला देते हैं, वे राख हो जाते हैं। तथा जो फेंक दिये जाते हैं, उनको कोई हिंस्र प्राणी भक्षण कर जाते हैं, उनके शरीर की विष्टा होती है। (फेंक देने पर शृगालादि ही भक्षण करते हैं) सारांश स्थूल देह की अंत में यह दशा होती है।

सूक्ष्मं शरीरं विभजते—

अर्थ—सूक्ष्म शरीर के विषय में और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हैं

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्म पर्य्यन्तं ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितंलिङ्गम् ॥ ४० ॥

अर्थ—यह सूक्ष्म शरीर प्रथम सृष्टि में उत्पन्न होने वाला, कहीं पर कुण्ठित न होने वाला, नित्य महत्तत्व से लेकर पंच तन्मात्राओं तक जितने तत्व हैं, उनका समुदाय रूप तथा स्वतः उपभोग शून्य होने से धर्माऽधर्मादिकों के वासनाओं में युक्त होकर अनेक प्रकार से स्थूल शरीरों में घूमने वाला है।

'पूर्वोत्पन्नम्' इति। 'पूर्वोत्पन्नं'=प्रधानेनादि सर्गेप्रति पुरुषमेकैक मुत्पादितम्, 'असक्तम्'=अव्याहतं शिलामप्यनुप्रविशति, 'नियतम्'=आ चादि सर्गादा च महाप्रलयादवतिष्ठते, 'महदादि सूक्ष्म पर्य्यन्तं'=महदहंका

रैकादशेन्द्रिय पंच तन्मात्र पर्यन्तम्–एषां समुदायः=सूक्ष्मशरीरं शान्त घोर मूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वाद्विशेषः।

अर्थ–'पूर्वोत्पन्न'–प्रधान द्वारा आद्य सृष्टिमें प्रत्येक पुरुषके लिये एक एक सूक्ष्म शरीर पृथक २ निर्माण किये गये। (असक्तं) असक्त याने अप्रति हतगत कहीं पर कुण्ठित न होने वाला, विशेष तो क्या, पाषाण सदृश घन पदार्थों में भी वह प्रवेश करता है, 'नियतं' याने यह शरीर नित्य अर्थात् आदि सृष्टि से लेकर महा प्रलय तक रहता है, (महदादि सूक्ष्म पर्यन्तं) महत्तत्व, अहंकार, एकादश इन्द्रियां, पञ्च तन्मात्रायें इनके समुदाय को सूक्ष्म शरीर कहते हैं, परन्तु अब यहां पर कोई यह कहे कि यह सूक्ष्म शरीर पञ्चतन्मात्रा रूप होने से उसको अविशेष में गणना करना चाहिये, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर शान्त, घोर व मूढ़ इत्यादि विशेषों से युक्त रहने वाली इन्द्रियों से मिश्रित होने के कारण वह विशेष ही है।

नन्वस्त्वेतदेवशरीरं भोगायतनं पुरुषस्य, कृतं दृश्यमानेनषाट्कौशिकेनशरीरेणेत्यत आह—"संसरति" इति, उपात्तमुपात्तं षाट्कौशिकं शरीरं जहाति, हायं हायं चोपादत्ते। कस्मात्? "निरुपभोगं" यतः षाट् कोशिकं शरीरं विना सूक्ष्म शरीरं निरुपभोगं, तस्मात्संसरति।

अर्थ—यदि स्थूल शरीर से भिन्न ऐसा यह सूक्ष्म शरीर जो अवश्य करके मानना ही पड़ता हो और उसीके योग से पुरुष को भोग भोगना आवश्यक हो तो पूर्वोक्त षाट् कौशिक स्थूल शरीरकी क्या आवश्यकता, क्या स्थूल शरीर न मिला तो काम नहीं चलेगा? सूक्ष्म शरीर प्राणी (पुरुष) का भोग स्थल है ऐसा नाम लेवें। समाधान–"संसरति" वह सूक्ष्म शरीर कर्म का फल भोगने के लिये क्रमशः अनेक स्थूल शरीर में प्रवेश करता है और पुनः छोड़ देता है। शंका, ऐसा होने का क्या कारण है? समाधान—"निरुपभोगं" सूक्ष्म शरीर को कोई भी भौतिक भोग स्थूल शरीर के बिना भोगने में नहीं आता, अतः उसको नवीन २ स्थूल शरीर का वारम्बार स्वीकार करना पड़ता है तथा प्रत्येक नवीन शरीर में प्रवेश करने के समय पिछला स्थूल शरीर छोड़ना पड़ता है, सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से चला जाना यही मरण है। व नवीन

ग्रहण करना ही जन्म है, इस तरह से सूक्ष्म शरीर को अनेक स्थूल शरीरों में भटकना यही उसका "संसरण" संसार है।

ननु धर्माधर्म निमित्त:संसार:, नच सूक्ष्म शरीरस्याति तद्योग:, तत्कथंसंसरति ? इत्यत आह "भावैरधिवासितं"=धर्माधर्म ज्ञानाज्ञान वैराग्यावैराग्यैश्वर्य्यानैश्वर्याणि भावा:,तदन्विताबुद्धि:,तदन्वितं च सूक्ष्मशरीरमिति तदपि भावैरधिवासितं,यथा-सुरभि चम्पक सम्पर्काद्वस्त्रं तदामोद वासितं भवति। तस्माद्भावैरेवाधिवासितत्वात्संसरति। कस्मात्पुन: प्रधानमिव महाप्रलयेऽपितच्छरीरंन तिष्ठति इत्यत आह-"लिंगम्" लयंगच्छतीति लिंगम्, हेतु मत्वेनचास्य लिंगत्वमितिभाव:। ४०॥

अर्थ—शंका-संसार तो धर्म व अधर्म इनके योग से प्राप्त होने वाला है, तो सूक्ष्म शरीर से उनका सम्बन्ध कैसे होगा ? तथा धर्माधर्म से प्राप्त होने वाला संसार जो सूक्ष्म शरीर से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रखता है, तो उसको अनेक शरीरों में फिरने का क्या कारण है ? समाधान—"भावैरधिवासितं" धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य ये भाव हैं, वे बुद्धि के आश्रय से रहित हैं, तथा सूक्ष्म शरीर बुद्धि युक्त रहता है, (यथेति) जैसे चम्पा, गुलाब इत्यादि सुगंधित पुष्प कोई एक वस्त्र में दाब कर रख देने से वह वस्त्र तद्गंध से सुगंधित हो जाता है, वैसे ही ये सूक्ष्म शरीर भी बुद्धि द्वारा धर्माधर्मादि भावों से वासित हो जाता है, अर्थात् उन भावों से संस्कारित हो जाता है, वह इस तरह के भावों में संस्कारित होकर स्थूल शरीरों में घूमता फिरता है। ऊपर कहा गया है कि सूक्ष्म शरीर प्रलय पर्यन्त तक रहता है। (इस पर शंका करते हैं) शंका दूसरी (कस्मादिति) प्रधानवत् वह सूक्ष्म शरीर महा प्रलय में नहीं रहता, इसका कारण क्या ? समाधान-'लिंगम्'अर्थात् यह सूक्ष्म शरीर लय पाने वाला है अत: नहीं रहता। (लय पाने वाला होने से ही इसको लिंग कहते हैं) प्रलय काल में सबका लय होता है, यह बात प्रसिद्ध है। तो यह विकारमय लिंग शरीर का लय होना कैसे शेष रह सकता है, सारांश। (हेतुमत्वेनेति) इसको लिंग कहने का कारण यह है कि यह हेतु युक्त है, याने

उसका कारण है और वह कार्य है, कार्य कारण रूप रहता है,तथा अपने कारण का अनुमान भी करवाता है तो यह कार्य रूपी लिंग द्वारा ही प्रधान नामक इसके कारण का अनुमान हुआ करता है।

स्यादेतद्-बुद्धिरेका साहंकारेन्द्रिया कस्मान्न संसरति ? कृतं सूक्ष्म शरीरेणाप्रामाणिकेनेत्यत आह—

अर्थ—शंका-इन्द्रियां तथा अहंकार इनके सहित बुद्धिही संसार को करती है, ऐसा क्यों न कहा जाय ? जिसके विषय में कुछ भी विशेष प्रमाण नहीं मिलता, ऐसे सूक्ष्म शरीर को और भी मानने का कारण क्या है ? समाधान—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया ।
तद्वद्विनाविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जैसे बिना आश्रय के चित्र नहीं रहता, या झाड़ खम्भा इत्यादि कों के बिना छाया नहीं रहती, वैसे ही सूक्ष्म शरीर के बिना बुध्यादि निराश्रय नहीं रहती।

'लिंगनाद्=ज्ञापनाद्बुध्यादयो='लिगं' तदनाश्रितं 'नतिष्ठति'। जन्म-प्रायणान्तराले बुद्ध्यादयः प्रत्युत्पन्न शरीराश्रिताः प्रत्युतपन्न पंचतन्मात्रवत्वे सतिबुद्ध्यादि त्वाद्-दृश्यमान बुद्ध्यादिवत्। 'बिनाबिशेषैर्' इति। सूक्ष्मैः शरीरै रित्यर्थः। आगमश्चात्रभवति-'अंगुष्ट मात्रं पुरुषं निश्चकर्षयमोबलाद्' इति। अंगुष्ठमात्रत्वं सूक्ष्मतामुपलक्षयति। आत्मनो निष्कर्षा संभवेन सूक्ष्ममेव शरीरं पुरुषः तदपिहिपुरि-स्थूल शरीरे शेते।

अर्थ—बुद्धि इत्यादि पदार्थ प्रधान का ज्ञान कर देते हैं, अतः उनको लिंग ऐसा कहते हैं, कारण लिंग का अर्थ ज्ञापन होता है, ज्ञापन याने ज्ञान करा देना, इस तरह का यह लिंग बिना आधार के नहीं रह सकता, लिंग शरीर प्रत्यक्ष दृग्गोचर नहीं हैं, तो भी अनुमानसे उपलब्ध होतीही है, इस विषयका अनु-मान-मृत्यु हुये बाद पुनः जन्म होय उस काल पर्यन्त जो समय व्यतीत होता है, उस काल में बुद्धि, अहंकारादि तत्व प्रत्येक पुरुष के भोग के लिये उत्पन्न हुये शरीर के आश्रय से रहा करते हैं, यह प्रतिज्ञा की गई है।

क्योंकि वे प्रत्येक सृष्टि के समय में निर्माण हुये पञ्चतन्मात्राओं से युक्त होकर बुद्धि अहंकारादि रूप रहते हैं, यह हेतु बतलाया। जो २ पदार्थ पञ्चतन्मात्रा युक्त होकर बुद्ध्यादि रूप रहता है वह शरीर के आश्रय विना नहीं रह सकता, जैसे—अपने शरीर में रहने वाले बुद्ध्यादि पदार्थ। यहां तक अनुमान कैसे किया जाता है, तथा लिंग शरीर अनुमान द्वारा कैसे सिद्ध होता है सो कहा—मनुष्य जीवित रहते हुये देखता है कि उसके बुद्ध्यादि पदार्थ स्थूल शरीर के आश्रय से रहते हैं इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्ध्यादि पदार्थ, बिना स्थूल शरीर के नहीं रह सकते, मरण के बाद स्थूल शरीर नहीं रहता और पूर्व जन्म के सम्पादित कर्मों का फल भोगने के लिये बुद्ध्यादिकों की रहना आवश्यक है परन्तु वे बुद्ध्यादि रहें कैसे ? उनको तो आश्रय चाहिये इसी आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिये सूक्ष्म शरीर कल्पना करना पड़ता है, यही सब अनुमान का भावार्थ है, सूक्ष्म शरीर के आश्रय से बुद्ध्यादि रहते हैं, इस बिषय में आगम (शास्त्र) प्रमाण है, "अङ्गुष्ठ" अर्थात्–यम ने स्थूल (सत्यवान नाम का पुरुष है) शरीर से अङ्गुष्ठ बराबर पुरुष को खींचकर निकाला 'अंगुष्ठ मात्रं पुरुषं' इस पद का सूक्ष्म शरीर ऐसा ही अर्थ करना चाहिये क्योंकि शरीर को ही पुरुष कहते हैं इसको 'पुरिशयनात् पुरुषः' पुरि (शरीर) में रहने वाला होने से 'पुरुष' ऐसी पुरुष शब्द की सामान्यव्युत्पत्ति है, स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर रहने के कारण सूक्ष्म शरीर को भी पुरुष कहने में बाधा नहीं, सारांश यह कि जैसे दीवार वस्त्र इत्यादि आश्रय के विना चित्र नहीं रह सकता या वृक्ष इत्यादि आकर वाले पदार्थ विना छायाके नहीं रह सकती, वैसे ही सूक्ष्म शरीर के बिना बुद्ध्यादि तत्व भी नहीं रह सकते ॥ ४१ ॥

एवं सूक्ष्म शरीरास्तित्वमुपपाद्य यथा संसरति, येन च हेतुना, तदुभयमाह–

अर्थ—इस तरह सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व प्रतिपादन करके—वह कैसे तथा किसलिये अनेक शरीरों में घूमता है सो कहते हैं—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्त नैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्व योगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

अर्थ—पुरुषार्थ द्वारा प्रेरित होने वाला यह लिङ्ग, धर्मा धर्मादिनिमित्त तथा अनेक प्रकार के स्थूल शरीर ये नैमित्तिक—इनमें आसक्ति रखने से तथा प्रधान के विभुत्व के योग से यह नटवत् नाट्य करता है ।

पुरुषार्थेनहेतुनाप्रयुक्तं, निमित्तं=धर्मादि, नैमित्तिकं, तेषु तेषु निकायेषु यथा यथं षाट् कौशिक शरीर ग्रहः । स हिधर्मादिनिमित्त प्रभवः निमित्तं च नैमित्तिकं च तत्र यः प्रसंगः प्रसक्तिस्तया ।' 'नटवद्व्यवतिष्ठते" "लिङ्ग" सूक्ष्मशरीरं, यथाहि नटस्तान्तांभूमिकांविधाय परशुरामोवाऽजात शत्रुर्वा वत्सराजो वा भवति—एवं तत्तत्स्थूल शरीर ग्रहणाद् देवोवा मनुष्योवा पशुर्वा, वनिस्पतिर्वा, भवति—सूक्ष्मं शरीरमित्यर्थः ।

अर्थ—भोग तथा अपवर्ग ये पुरुषार्थ हैं, वे सूक्ष्म शरीर को प्रेरित करते हैं, अर्थात् पुरुष को भोग तथा अपवर्ग प्राप्त हों इसलिये, तथा निमित्त नैमित्तिक से आसक्त हुआ लिंग नटवत् (बहुरूपी सदृश) अनेक रूप धारण करता है, धर्म अधर्म इत्यादि पूर्व भावों को निमित्त कहते हैं और अनेक स्थूल शरीर याने उस २ योनि में जन्म लेकर उस योनि के योग्य षट् कोश युक्त स्थूल शरीर का ग्रहण करना यही नैमित्तिक है, निमित्त से जो प्राप्त हो वह नैमित्तिक शरीर धर्माधर्मादि भावों से प्राप्त होते हैं, इस निमित्त व नैमित्तिक में प्रसक्ति (आसक्ति)हो लिंग (सूक्ष्मशरीर) नटवत् अनेकरूप धारणकरता है।(यथाहि)जैसे कोई नाटकी परशुराम का स्वांग लेकर हावभाव करता है, दूसरे दिन युधिष्ठिर का स्वांग लेकर तद्वत् चेष्टा करता है, परसों देखो तो वत्सराज का रूप लेकर तदनुकूल अभिनय करता है । (एवमिति) वैसे ही लिंग (सूक्ष्म) शरीर भी कभी देवता बनकर इन्द्रलोक का सुख भोगता है, कभी ब्राह्मणादि मनुष्य रूप धारण करके वेदाध्ययनादि कर्म करता है, कभी सिंहादि हिंस्र पशुओं का रूप ले बन में गर्जता, हाथियों को मारता हुआ घूमता है,कभी वृक्षादि स्थावर भाव को प्राप्त होकर रहता है, ऐसा वह सूक्ष्म (लिंग) शरीर अनेक शरीरों में क्यों घूमता है, सो बतलाया ।

कुतस्त्य: पुनरस्येदृशोमहिमा ? इत्यत आह–प्रकृतेर्विभुत्व योगात् । तथाचपुराणं–'वैश्वरूप्यात्प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुत:' इति ॥४२॥

अर्थ—शंका–परन्तु इस तरह के सूक्ष्म शरीर का इतना बड़ा माहात्म्य आया कहां से ? समाधान—यह सब चमत्कार–प्रकृति विभु होने से किया करती है, यह प्रताप सब उसी का है ।

"निमित्त नैमित्तक प्रसंगेन" इत्युक्तं, तत्रनिमित्तं नैमित्तकं च विभजते—

अर्थ—निमित्त तथा नैमित्तिक इनमें आसक्त होने से सूक्ष्म शरीर को नाना विध स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है, ऐसा ऊपर कहा है, इसी से निमित्त तथा नैमित्तिक इनका विभाग करके स्पष्ट वर्णन करते हैं ।

सांसिद्धिकाश्चभावा: प्राकृतिका वैकृताश्चधर्माद्या: ।
दृष्टा: करणाश्रयिण: कार्याश्रयिणश्च कललाद्या: ॥४३॥

अर्थ—नैमित्तिक तथा सांसिद्धिक, धर्मादिक, भावकरण के आश्रय से रहते हैं, ऐसा देखने में आता है । तथा कललादि भाव जो कार्य सो शरीर के आश्रय से रहते हैं ।

'वैकृता:'=वैकृतिका:=नैमित्तिका: 'प्राकृतिका:=स्वाभाविका:= 'सांसिद्धिकाभावा:'यथा–सर्गादावादि विद्वान् भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्म ज्ञान वैराग्यैश्वर्यसम्पन्न: प्रादुर्बभूवेति स्मरन्ति ।

अर्थ—वैकृत याने नैमित्तिक पुरुष उत्पन्न होने पर जो कुछ देवता आराधन वगैरह करता है, उससे उत्पन्न होने वाले फल (भाव) को नैमित्तक भाव कहते हैं, प्राकृतिक याने स्वाभाविक इसी को सांसिद्धिक भाव कहते हैं, क्योंकि वह जन्मत: सिद्ध रहताहै । (यथेति) जैसे सृष्टि के पहिले पहल कपिल महा मुनी हुये, वे प्रथम ही से विद्वान् तथा धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य इनसे सिद्ध थे, इसका पुराण शास्त्र और स्मृति में प्रमाण मिलता है ।

"वैकृताश्चभावा:"=असांसिद्धिका:=उपायोनुष्ठानोत्पन्ना:–यथा प्राचेतसप्रभृतीनां महर्षिणाम् । एवमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याण्यपि ।

अर्थ—वैकृतिक यानी नैमित्तिक भाव ये सांसिद्धिक नहीं हैं, क्योंकि वे उपाय (अनुष्ठानादि) द्वारा सिद्ध होते हैं, प्राचेतस वाल्मिकी–इत्यादि महर्षि तपश्चर्या, जप, ध्यानादि उपायों के योग से ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य इत्यादि भाव प्राप्त कर लेते हैं, ऐसा पुराण–इतिहासादि ग्रन्थों में स्पष्ट वर्णन है, (एवमिति) इस तरह के ये उक्त दो प्रकार के भाव हैं, वैसे ही अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्यादिभाव करणों (अन्तःकरण) का आश्रय करके रहते हैं, वे ही निमित्तरूप हैं।

एतेकुत्रदृष्टाः ? इत्यत आह—"करणाश्रयिणः" इति । करणं=बुद्धितत्वं, कार्यं=शरीरं, तदाश्रयिणः । तस्यावस्थाः=कललबुद्बुदमांसपेशी करण्डाङ्गप्रत्यङ्गव्यूहाः गर्भस्थस्य, ततो विनिर्गतस्य बालकस्य बाल्य कौमार यौवन वार्द्धकानीति ॥ ४३ ॥

अर्थ—ये करण–आश्रय से रहते हैं ऐसा ऊपर कह चुके हैं, अब नैमित्तिक (निमित्त होने वाला) शरीर इसके आश्रय से रहने वाले भाव कौन से हैं, सो बतलाते हैं कि–'कललादि' भाव कार्य के आश्रय से रहते हैं, ऐसा कारिका में कहा है। कार्य (शरीर) के आश्रय से रहना यानी तदवस्था होना, गर्भाशय में प्रविष्ट रेत (वीर्य) प्रथम कलल (रज वीर्य का मिश्रण) होता है। बाद बुद्बुद, मांसपेशी, कोश इत्यादि प्रथक २ छोटे बड़े अवयव होते हैं। उत्पन्न होने पर बाल्य, कौमार, तारुण्य, वृद्धत्वादि अवस्था प्राप्त होती है। इसको नैमित्तक कहते हैं ॥ ४३ ॥

अवगतानि निमित्तनैमित्तिकानि, कतमस्य तु निमित्तस्य कतमन्नैमित्तिक मित्यतआह—

अर्थ—निमित्त व नैमित्तकों का भेद जाना, परन्तु कौन से निमित्त से कौन से नैमित्तिक होते हैं, यह समझना शेष है, सो ग्रन्थकार कहते हैं।

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

अर्थ—धर्म के योग से ऊर्ध्वलोक में गमन होता है, अधर्म से अधोलोक (पातालादि) में गमन होता है, ज्ञान के योग से मोक्ष मिलता है व अज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

"धर्मेणगमनमूर्ध्वं" द्युप्रभृतिषु लोकेषु, "गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण" भूतलादिषु, "ज्ञानेनंचापवर्गः" तावदेवप्रकृतिरारभ्यते न यावद्विवेकख्याति करोति, अथ विवेकख्यातौ सत्यांकृतकृत्यतया विवेकख्यातिमन्तं पुरुषंप्रति निवर्तते। यदाहुः—"विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयंप्रकृतिचेष्टितम्" इति।

अर्थ—धर्मानुष्ठान द्वारा मनुष्य उत्तम (देवादि) लोक में जाता है। अधर्मादि अनुष्ठान द्वारा मनुष्य अधो (भू) लोक में प्राप्त होता है, ज्ञान से मोक्ष मिलता है, क्यों कि (तावदेवेति) प्रकृति, जब तक विवेक ज्ञान नहीं प्राप्त होता तब तक परिणाम का आरम्भ करती है, और प्रकृति व पुरुष भिन्न भिन्न हैं। ऐसा निश्चय हुये बाद वह (प्रकृति) कृतकृत्य होती है। अर्थात् फिर उसको 'कर्तव्य' नाम कुछ नहीं रहता, इसोसे जिसको विवेकख्याति हो गई है ऐसे पुरुष के पास से वह निवृत्त हो जाती है, यानी भोग व अपवर्ग इन दोनों में से एक भी कार्य करने के लिये शेष न रहने से प्रकृति पुरुष को छोड़ देती है, इस विषय में कहा भी है कि—विवेकख्याति प्राप्त होने तक ही प्रकृति का कार्य चलता रहता है। विवेक ख्याति हुये बाद छूट जाती है।

"विपर्य्ययाद्"=अतत्वज्ञानाद्, "इष्यतेबन्धः" स च त्रिविधः—प्राकृतिको, वैकृतिको, दाक्षिणकश्चेति। तत्र प्रकृताबात्म ज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते—तेषां प्राकृतिकोबन्धो—यः पुराणे प्रकृतिलयान् प्रत्युच्यते। "पूर्णशत सहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिंतकाः" इति, वैकारिकोबन्धस्तेषां—येविकारानेव भूतेन्द्रियाहंकारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते।

अर्थ—ज्ञान के विपर्यय (तत्व का अज्ञान) के योग से प्राणी को बन्धन होता है, यह बन्धन तीन प्रकार का होता है, प्राकृतिक, वैकृतिक, दाक्षिणिक, (तत्रेति) इनमें से जो प्रकृति को आत्मा समझ कर प्रकृति की उपासना करते, वह पुरुष पूर्ण लक्ष वर्ष पर्यन्त प्रकृति में लीन होकर रहते हैं,

यही प्राकृतिक बन्धन कहाता है, (येतु) जो पुरुषभूत, इन्द्रियें, अहंकार, बुद्धि इन बिकारों को यही पुरुष है ऐसी भावना से पूजन करते हैं। उनको वैकारिक बन्धन प्राप्त होता है।

तान्प्रतीद मुच्यते—

"दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तुशतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः। बौद्धादशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः"। "तेखल्वमी विदेहा येषां वैकृतिकोबन्धः" इति। इष्टापूर्तेन दाक्षिणकः, पुरुषतत्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यत इति ॥ ४४ ॥

अर्थ—विकृति पूजकों के विषय में पुराण क्या कह रहे हैं सो दिखाते हैं-श्लोकार्थ—जो अव्यक्त इन्द्रियों को पुरुष मानकर उसका ध्यान करते हैं, वे दशमन्वन्तर पर्यन्त विदेह-अवस्था में रहते हैं, भूतों की उपासना करने वाले शत मन्वन्तर तक, अहंकार के भक्त सहस्रमन्वन्तर पर्यन्त व बुद्धि को भजने वाले दश सहस्र मन्वन्तर पर्यन्त दुःख रहित विदेह अवस्था में रहते हैं। एक मन्वन्तर में कृतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग के ७१ फेरे होते हैं। (इष्टापूर्तेनेति) यज्ञ, कूप, तालाब, धर्मशाला आदि पूर्त कर्म के योग से कर्मकाण्डी लोक दक्षिणायन मार्ग से चन्द्रलोक में जाते हैं। इसीसे इनको दाक्षणिक कहते हैं। वहां पर इनको मनमाने भोग मिलते हैं यह सही, परन्तु यह भी एक बन्धन है, क्योंकि पुरुषतत्व को न जानने वाला तथा फल की इच्छा से व्याप्त चित्तवाला प्राणी 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' के फेरे से नहीं छूटता, वासना का क्षय हुये बिना मोक्ष नहीं होता, 'ऋतेज्ञानान्नमोक्षः' यही हमारे शास्त्र का सर्व मान्य तत्व है, यदि निष्काम चित्त से उक्त कार्य किये जांय तो अवश्य उत्तम गती को प्राप्त होता है, व क्रमशः उसका मोक्ष भी हो जाता है, कहने का तात्पर्य यह है कि-ये तीनों बन्धन तत्वानभिज्ञता (अज्ञान) के कारण से प्राप्त होतेहैं ॥४४॥

अब कौन से उपाय से कौन सा लय सिद्ध होता है। यह कहते हैं।

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागाद्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

अर्थ—वैराग्यसे प्राणी का प्रकृति में लय होता है, राग से संसार में लय होता है, ऐश्वर्य के योग से इच्छा भंग नहीं होता, तथा अनैश्वर्य से इच्छा भंग होता है।

"वैराग्यात्प्रकृतिलयः" पुरुषतत्वानभिज्ञस्य वैराग्यमात्रात्प्रकृति लयः,=प्रकृतिग्रहणेन प्रकृति कार्य महदहङ्कार भूतेन्द्रियाणि गृह्यन्ते-तेष्वात्मबुद्ध्योपास्यमानेषुलयः। "संसारो भवतिराजसाद्रागाद्"। राजसादित्यनेन रजसोदुःखत्वात्संसारस्य दुःखतासूचिता। ऐश्वर्य्यादविघातः"-इच्छाया। ईश्वरोहि यदिच्छति तत्करोति। "विपर्ययात्"=अनैश्वर्यात् "तद्विपर्यासः"=सर्वत्रेच्छात्रिघात इत्यर्थः।

अर्थ—पुरुष तत्व से अनभिज्ञ (अज्ञान) होकर जो वैराग्य का अभ्यास करता है, वह पुरुष प्रकृति में लय होता है, अर्थात् पुरुष तत्व को जानने के लिये प्रयत्न न करके केवल वैराग्य (ऐहिक व पारलौकिक विषयों में तृष्णा रहित होना यही वैराग्य शब्द का अर्थ है) का अभ्यास करता है, उसका लय प्रकृति में होता है, यहां प्रकृति शब्द से उसके कार्य महत् अहंकार तन्मात्र, इन्द्रियें इनका भी ग्रहण किया है, ऐसा ग्रहण करने से यह निष्पन्न हुआ कि इन उक्त तत्वों में से किसी एक तत्व की आत्म बुद्धि से उपासना करने पर उपासक का उसी तत्व में लय होता है। (संसारेति) राग (काम, प्रेम) यह रजोगुण से उत्पन्न होने वाला है, रजोगुण दुःख रूप है अतः राजस (राग) से दुःखरूप संसार प्राप्त होताहै, राजस शब्द संसारको दुःख रूपहै,यह सूचित किया। (ऐश्वर्येति) साधक ऐश्वर्य सम्पन्न हो गया हो तो उसकी इच्छा का भंग कभी किसी काल में नहीं होता, समर्थ पुरुष जो इच्छा करते हैं, वह होता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवमें भी है। (विपर्ययाद्) परन्तुवही साधक जो ऐश्वर्य रहित हुआ तो उसकी इच्छा भंग हर समय हर स्थानमें होतीहै, अर्थात् इस दुःखरूपी संसार का पूर्ण (सच्चा) अनुभव उसी को मिलता है।

बुद्धिधर्मान्=धर्मादीनष्टौभावान् समास व्यासाभ्यां मुमुक्षूणां हेयोपादेयान्दर्शयितुं प्रथमतस्तावत्समासमाह—

अर्थ—धर्माधर्मादि आठ भाव बुद्धि के धर्म हैं, उनमें से मुमुक्षु को

कुछ ग्राह्य हैं, इसीसे उनका संक्षेपसे तथा विस्तार पूर्वक विवेचन करना आवश्यक जानकर ग्रन्थकार प्रथम संक्षेपतः निर्देश करते हैं।

एषप्रत्ययसर्गो विपर्ययाऽशक्ति तुष्टि सिद्धाख्यः।
गुणवैषम्य विमर्द्दात्तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि ये नाम हैं, जिनके ऐसा बुद्धि का प्रपंच है, तथा उसी के गुण वैषम्यता से होने वाले पराभव के योग से ५० भेद होते हैं ॥ ४६ ॥

प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययो=बुद्धिः—तस्यसर्गः। तत्र विपर्ययः=अज्ञानम् अविद्या च—बुद्धिधर्मः, अशक्तिरपि करणवैकल्यहेतुका बुद्धिधर्मएव तुष्टि सिद्धीअपि वक्ष्यमाणे बुद्धिधर्मावेव। तत्र विपर्य्ययाशक्ति तुष्टिषु यथा योगं सप्तानां च धर्मादीनां ज्ञानवर्जमन्तर्भावः, सिद्धौ च ज्ञानस्येति।

अर्थ—जिस साधन द्वारा प्रतीति होती है, उसको प्रत्यय कहते हैं, यहां पर प्रत्यय नाम बुद्धि का है, विपर्य्यय आदि चार प्रकार का सर्ग बुद्धि से उत्पन्न होती है, (तत्रेति) यहां सर्ग का अर्थ 'परिणाम' जानना उनमें विपर्य्यय को अज्ञान या अविद्या कहते हैं, यह विपर्य्यय बुद्धि का धर्म है, (अशक्ति) अशक्ति यह बुद्धि का दूसरा धर्म है, परन्तु अशक्ति यह धर्म साक्षात् बुद्धि का धर्म नहीं हो सकता, ऐसा जानकर ग्रन्थकार ने "करण वैकल्यहेतुका" ऐसा कहा है, जब कि इन्द्रियां अपना २ कार्य करने में सन्नद्ध (तत्पर) न हों या असमर्थ (अन्ध वधिर) होने से बुद्धि विषयों का निश्चय करने में असमर्थ होती हैं, कारण इन्द्रियों की विकलता से अशक्ति, यह बुद्धि का धर्म होता है, तुष्टि यथा सिद्धि इनका उल्लेख अग्रिम कारिका में होने वाला है, यह भी दोनों बुद्धि के ही धर्म हैं, पीछे बुद्धि के आठ (धर्माधर्म ज्ञानाज्ञान वैराग्यावैराग्य ऐश्वर्याऐश्वर्य) ये धर्म हैं, तथा अब विपर्य्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि यह भी बुद्धिके ही धर्म हैं, यदि आप ऐसा कहें तो यह पूर्वापर विरोध नहीं है क्या ? ऐसा कोई प्रश्न करेगा, कारण टीकाकार कहते हैं कि—विपर्य्यय, अशक्ति, तथा तुष्टि इनमें केवल ज्ञान को छोड़कर बाकी के सात धर्मों का अन्तर्भाव होता है। जैसे—अज्ञान का विपर्य्यय में

अन्तर्भाव होता है, अनैश्वर्य, अवैराग्य, अधर्म इनका अशक्ति में, तथा वैराग्य ऐश्वर्य, धर्म इनका तुष्टि में अन्तर्भाव होता है, शेष रहा ज्ञान उसका सिद्धि में अन्तर्भाव होता है। सारांश यह है कि पूर्वोक्त धर्मादि भावों का विपर्य्ययादिकों में अन्तर्भाव होने के कारण वे इनसे पृथक् हैं या पूर्वापरविरोध आता है, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं।

व्यासमाह—"तस्यचभेदास्तुपञ्चाशद्" इति। कस्मात्? "गुणवैषम्य विमर्दात्"इति,='गुणानांवैषम्यम्=एकैकस्याधिकबलताद्वयोर्द्वयोर्वा, एकैकस्य न्यून बलताद्वयोर्द्वयोर्वा,तेचन्यूनाधिक्ये मन्दमध्याधिक्यमात्रतया तथा कार्यमुन्नीयेते, तदिदं गुणानां वैषम्यं, तेनोपमर्दः=एकैकस्यन्यूनबलस्य द्वयोर्द्वयोर्वाऽभिभवः, तस्मात्' "तस्यभेदाः पञ्चाशद्" इति ॥ ४६ ॥

अर्थ—अब इन विपर्यादिकों का कितना विस्तार है सो बतलाते हैं—इन चार प्रकार के बुद्धि सर्ग के पचास अवान्तर भेद हैं, उनके इतने भेद होने का क्याकारण है? गुणों का वैषम्य तथा इसी से होनेवाला परस्पर पराभव यही (मूल) कारण है, सत्व, रज, तम इन तीन गुणों में से एक या दो गुणों की प्रवलता होना या एकैक या दो गुणों की निर्बलता होना यही उनकी विषमता है, विषमता यानी न्यूनाधिकता या असमानता, (तेनोपमर्दः) तीनों गुणों का बल सदृश प्रमाण में न रहकर न्यूनाधिकताई की विषमता हुई, इस तरह गुणों की विषमता होने पर तदुनुकूल कार्य भी मन्द, मध्यम, जल्द होते हैं, इन गुणों की विषमता से जिसका सामर्थ कम हो जाता है, ऐसे एक एक या दो दो गुणों का पराभव होता है। यानी बलाढ्य के सामने उसका कुछ चलता नहीं और इसी से उसके कार्य भी नहीं होते। (तस्माद्) सारांश गुणों की विषमता से या पराभव होने से विपर्ययादिकों के पचास भेद होते हैं।

तानेवपञ्चाशद्भेदान् गणयति

अर्थ—अब उन्हीं पचास भेदों की गणना करते हैं

पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्याद् ।
अष्टाविंशति भेदा तुष्टिर्नवधाष्टधासिद्धिः ॥ ४७ ॥

अर्थ—विपर्यय के पांच भेदहोते हैं, इंद्रियों के असामर्थता से अशक्ति के अट्ठाईस भेद होते हैं, वैसे ही तुष्टि के नव प्रकार हैं, तथा सिद्धी आठ प्रकार की है।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा यथा संख्यं तमोमोह महामोह तामिस्रान्धतामिस्र संज्ञका:=पञ्च विपर्यय विशेषाः-विपर्यय प्रभवाणामस्मितादीनां विपर्यय स्वभावत्वाद्, यद्वा यदविद्यया=विपर्ययेणावधार्यते वस्तु-अस्मितादयस्तत्स्वभावाः सन्तस्तदभि निविशन्ते। अतएव "पञ्च पर्वा अविद्या" इत्याह भगवान् वार्षगण्य: ।। ४७ ।।

अर्थ—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये विपर्यय के पांच भेद हैं, इन्हीं पांच भेदों को कहीं २ तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र ऐसे नाम कहे हैं, विपर्यय=मिथ्याज्ञान उससे निर्माण हुये अस्मितादि पांच भेदों का भी विपर्यय यही स्वभाव (परिणाम) रहता है, क्योंकि कार्य गुणात्मक रहता है, अर्थात् जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता है वह उसी के स्वभाव का रहता है, ऐसा नियम तथा अनुभव भी है, जैसे सुवर्ण से उत्पन्न हुआ कुण्डल सुवर्ण के स्वभाव ही का रहता है। (यद्वा) एक तो इस कारण से विपर्यय के, अविद्यादि भेद होते हैं,ऐसा कहनेमें आता है।अथवा विपर्ययका एक प्रकार जो अविद्या—वह पदार्थ के विषय में जैसा विपरीत निश्चय करती है, वैसे ही अस्मितादिक अन्य भेद भी अविद्या के अनुकूल होकर उस पदार्थ को वैसा ही जानते हैं। (अतएवेति) इसीलिये पूज्य महर्षि वार्षगण्य ,सांख्याचार्य ने "पञ्चपर्वा अविद्या" ऐसा कहा है। सारांश विपर्यय के उक्त प्रकार के दो भेद हैं ऐसा कह सकते हैं।

सम्प्रति पञ्चानां विपर्यय भेदानामवान्तर भेदानाह—

अर्थ—अब इन विपर्यय के पांच भेदों के सेवान्तत भेद बतलाते हैं

भेदस्तमसोऽष्ट विधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ।।

अर्थ—तम के आठ भेद हैं, मोह के भी प्रकार आठ ही हैं, महामोह

दश प्रकार का है, तामिस्र के अठारह प्रकार हैं, तथा अन्धतामिस्र के भी अठारह प्रकार हैं ॥ ४८ ॥

"भेदः-तमसः"=अविद्यायाः"अष्टविधः", अष्टस्वव्यक्तमहदहंकार पञ्चतन्मात्रेष्वनात्मस्वात्मबुद्धिर्=अविद्या=तमः। अष्टविधविषयत्वात्तस्या-ष्टविधत्वम्। "मोहस्य च" इति। अत्रापि 'अष्टविधोभेद' इति चकारेणा-नुषज्यते। देवाह्यष्टविधमैश्वर्यमासाद्यामृतत्वाभिमानिनोऽणिमादिकमात्मीयं शाश्वतिकमभिमन्यन्तइति सोयमस्मितामोहोऽष्टविधैश्वर्यविषयत्वाद् 'अष्ट विधः'।

अर्थ—तम (अविद्यादि) का भेद आठ प्रकार का है। (अष्टस्विति) अव्यक्त, महत्, अहंकार तथा पांच तन्मात्रायें इन आठ अनात्मरूप पदार्थों में आत्मदृष्टि करना यही अविद्या या तम है, इस अविद्या के अव्यक्तादि आठ विषय होने से इसके आठ भेद होते हैं। (मोहस्य च) मूलकारिका में 'च' इस अव्ययका उपयोग होने से पीछेके अष्टविध इस पदका मोहसे संबन्ध सूचित किया है (देवा) देवतालोक—अणिमा, गरिमा, लघिमा इत्यादि (पूर्वोक्त सिद्धियों) द्वारा आठों प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करके 'हम अमर हैं' ये अणिमादि विभूति हमारी है, ऐसा अभिमान करते हैं, यह शाश्वत है ऐसी भी उनकी दृढ़ कल्पना रहती है, इस तरह की अस्मिता ही मोह है। आठ प्रकार के ऐश्वर्य यही उसका विषय होने से मोह के भी आठ प्रकार होते हैं।

"दशविधो महामोह" इति। शब्दादिषु पञ्चसुदिव्यादिव्यतया दशविधेषु विषयेषु रञ्जनीयेषुरागः=आसक्तिः="महामोहः", सचदशविध विषयत्वाद् "दशविधः"।

अर्थ—महामोह दश प्रकार का है, महामोह यानी राग, राग यानी आसक्ति, उसके शब्दादि पांच दिव्य (अलौकिक) विषय तथा पांच अदिव्य (लौकिक) विषय मिलकर दश विषय हुये हैं, ये मनुष्य को अपने स्वरूप में आसक्त करते हैं, उनमें जो आशक्ति है वही राग या महामोह है, उसके उक्त दश विषय होने से वह भी दश प्रकार का है।

"तामिस्र."=द्वेषः-"अष्टादशधा"=शब्दादयोदशविषया रञ्जनीयाः स्वरूपतः; ऐश्वर्यंत्वणिमादिकं न स्वरूपतोरञ्जनीयं, किंतु रञ्जनीय शब्दाद्युपायाः, ते च शब्दादय उपस्थिताः परस्परेणोपहन्यमानास्तदुपाया श्चाणिमादयः स्वरूपेणैव कोपनीयाभवन्तीति शब्दादिभिर्दशभिःसहाणि-मादिकमष्टादशधेति तद्विषयोद्वेषः=तामिस्रोऽष्टादशविषयत्वाद् अष्टा-दशधा, इति।

अर्थ—तामिस्र (द्वेष) अठारह प्रकार का है, ऊपर कहे हुये शब्दादि दश विषय स्वरूपतः आसक्त करने वाले हैं, परन्तु अणिमादि ऐश्वर्य स्वतः रञ्जनीय नहीं है, किंतु शब्दादि इष्ट विषयों के उपाय हैं। यानी सुख का साधन जो शब्दादि विषय उनके प्राप्ति के वे साधन हैं। (ते च) वे शब्दादि विषय आगे उपस्थित होने पर उनका परस्पर विरोध होने के कारण वे परस्पर प्रति वंध करते हैं। तथा उनका परस्पर प्रति बंध होने पर प्रथम उनके विषय में जो राग रहता है, उसी का कोप में अन्त होता है। काम का प्रतिबंध हुआ कि उसका कोप में परिणाम होता है, यह सिद्धान्त है। इस तरह विषय दश विध होने से उनके विषय का द्वेष भी दश प्रकार का होता है और अणिमादि अष्ट विध ऐश्वर्य तो स्वतः द्वेष के पात्र होने वाले हैं, ऐसे दोनों प्रकार के द्वेष मिलकर उनकी संख्या अठारह होती है।

तथाभवत्यन्धतामिस्रः"। "अभिनिवेशः"=अन्धतामिस्रः। 'तथा' इत्ययेन "अष्टादशधा" इत्यनुषज्यते। देवाः खल्वणिमादिकमष्ट विधमैश्व-र्यमासाद्य दश शब्दादीन् विषयान् भुञ्जानाः-'शब्दादयो भोग्यास्तदुपा-याश्चाणिमादयोऽस्माकमसुरादिभिर्मास्मोपधानिषत' इतिबिभ्यति, तदिदं-भयम्=अभिनिवेशः अन्धतामिस्रोऽष्टादशविषय त्वाद् "अष्टादशधा" इति। सोऽयं पञ्चविकल्पो विपर्ययोऽवान्तरभेदात्द्विषष्टिरिति॥

अर्थ—अन्धतामिस्र अठारह प्रकार का है, अन्धतामिस्र याने अभिनि-वेश, देवता लोक अणिमादि आठ प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त करके शब्दादि दश विध विषयों का भोग लेते हुये हमारे इस शब्दादि भोग्य विषय का तथा उनके उपाय (फल) रूप अणिमादि ऐश्वर्य का राक्षस हरण तो न कर लेंगे?

इस बात से भयभीत रहते हैं, इसी भय का नाम अभिनिवेश या अन्धतामिस्र है, इस भय के अठारह प्रकार के विषय होने से अन्धतामिस्र भी अठारह प्रकार का है—सारांश—जिस विपर्यय के पांच भेद हैं, उसके इस तरह से बासठ (६२) अवान्तर भेद होते हैं ॥ ४८ ॥

तदेवंपञ्चविपर्ययभेदानुक्त्वाऽष्टाविंशतिभेदामशक्तिमाह—

अर्थ—इस तरह पीछे के कारिका में विपर्यय के अवान्तर भेदों का वर्णन करके अब इस कारिका में अशक्ति के अट्ठाईस भेद कौन से हैं सो बतलाते हैं।

एकादशेन्द्रिय वधाः सहबुद्धि वधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टि सिद्धीनाम् ॥ ४९॥

अर्थ—बुद्धि के बध सहित वर्तमान एकादश इंद्रिय बध इसी को अशक्ति ऐसा कहा है, तुष्टि तथा सिद्धि इनके विपर्यय से बुद्धि के सप्तदश (१७) वध होते हैं ॥४९॥

"एकादश" इति। (इन्द्रिय वधस्य ग्रहो बुद्धिवधहेतुत्वेन, नत्वशक्तिभेद पूर्णत्वेन)। "एकादशेन्द्रिय वधाः"="बाधिर्य कुष्ठिताऽन्धत्वं जड़ता जिघ्रता तथा। मूकता कौण्य पंगुत्वे क्लैब्योदावर्तमन्दताः" यथासंख्यंश्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां बधाः। एतावत्येवतु तद्धेतुका बुद्धेरशक्तिः स्वव्यापारे भवति। तथा चैकादश हेतुकत्वाद् "एकादशधा" बुद्धेरशक्ति रुच्यते, हेतुहेतुमतोरभेद विवक्षयां च सामानाधिकरण्यम्।

अर्थ—एकादश इन्द्रियों का वध यानी अपने २ कार्य करने की असमर्थता, यह बुद्धि का धर्म कहा है, सो केवल आरोपमात्र किया है न कि प्रत्यक्ष अशक्ति का भेद होने से किया है, क्योंकि अशक्ति नामक बुद्धि का स्वरूपतः धर्म इसी कारिका में आगे बतलावेंगे, अब पहिले इन्द्रियों के एकादश बध बतलाते हैं, "बाधिर्य" इत्यादि, इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में बुद्धि-इन्द्रिय की असमर्थता बतलाईहै और "मूकता" इत्यादि से कर्मेन्द्रियों की असामर्थ्यता कही है, बाधिर्य या बहिरेपन, श्रवणेन्द्रिय का शब्द ग्रहण से असामर्थ्य कुष्ठत्व, कोढ़युक्त होना, त्वगिन्द्रिय से स्पर्श ग्रहण की अयोग्यता अन्धत्व

नेत्र रहित होना, आंखों से रूप ग्रहण का असामर्थ्य, अजिघ्रता, (गंध लेने न आना) घ्राणेन्द्रिय का असामर्थ्य, मूकता-गूंगा वागिन्द्रिय का असामर्थ्य, कौण्य डुंडा-हाथ का असामर्थ्य, पंगुत्व-लंगड़ापन पावों का असामर्थ्य, क्लैब्य-नपुंसकता जननेन्द्रिय का असामर्थ्य, उदावर्त वद्धकोष्ठत्व, विष्ठोत्सर्ग का असामर्थ्य, मन्दता-मन का विषयादि ग्रहण करने में असमर्थता, इन एकादश इन्द्रियों के असामर्थ्यता से बुद्धि इन एकादश प्रकार के व्यापार विषय निश्चय करने में असमर्थ होती है, (एतावतेति) सारांश इंद्रियों से बुद्धि की ग्यारह प्रकार की अशक्ति होती है, इस अशक्ति का कारण इन्द्रियों का वध यही है, कार्य कारण का ऐक्य रहता है ऐसा दर्शित कराने के उद्देश से इन्द्रिय वध का बुद्धि में आरोप किया है।

तदेवमिन्द्रियवधद्वारेण बुद्धेरशक्तिमुक्त्वास्वरूपतोऽशक्तिराह—"सहबुद्धिवधैः" इति। कतिबुद्धेः स्वरूपतोवधाइत्यतआह—"सप्तदशधा बुद्धेः" इति। कुतः? "विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनां" तुष्टयो नवधेति तद्विपर्ययास्तन्निरूपणात्-तत्प्रतियोगित्वान्नवधाभवन्ति, एवं सिद्धयोऽष्टाविति तद्विपर्ययास्तन्निरूपणादष्टौभवन्तीति ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस तरह इन्द्रिय वधों के योग से बुद्धि की एकादश प्रकार की अशक्ति बतलाकर अब स्वतः स्वरूप भूत बुद्धि की अशक्ति बतलाते हैं, बुद्धि के स्वरूपतः वध सत्रह (१७) हैं। सत्रह ये तथा पूर्वोक्त एकादश मिलकर अशक्ति अट्ठाईस (२८) प्रकार की है। (कुतः) बुद्धि के स्वरूपतः वध सप्तदश कैसे हैं। सो देखो—तुष्टि नवप्रकार की है उसके निरूपण से उसके विपर्यय भी नव प्रकार के होते हैं, वैसे ही सिद्धि आठ प्रकार की है और उसके भी निरूपण से आठ विपर्यय होते हैं, इस तरह बुद्धि के स्वतः नव और आठ मिलाकर सत्रह वध होते हैं ॥ ४९ ॥

तुष्टिर्नवधेत्युक्तं ताः परिगणयति—

अर्थ—तुष्टि के नव प्रकार कौन से हैं सो बतलाते हैं

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादान कालभागाख्याः।
बाह्याविषयोपरमात्पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥

अर्थ—प्रकृति, उपादान, काल तथा भाग्य इन नामों की आध्यात्मिक तुष्टि चार तथा विषयों के वैराग्य से प्राप्त होने वाली वाह्य तुष्टियें पांच-ऐसे मिलकर सब तुष्टि नव प्रकार की है।

'प्रकृति व्यतिरिक्त आत्मास्ति' इति प्रतिपद्य ततोऽस्य श्रवण मननादिना विवेक साक्षात्कारायत्वसदुपदेशतुष्टो यो न प्रयतते तस्य "आध्यात्मिक्यश्चतस्रः" तुष्टयो भवन्ति। प्रकृति व्यतिरिक्तमात्मानमधिकृत्य यस्मात्तास्तुष्टयस्तस्माद् "आध्यात्मिकयः। कास्ताः? इत्यत आह- "प्रकृत्युपादान कालभागाख्याः"=प्रकृत्यादिराख्या यासां तास्तथोक्ताः।

अर्थ—आत्मा प्रकृति से भिन्न है, ऐसा ज्ञान प्राप्त करके आत्म साक्षात्कार के लिये शास्त्रोक्त श्रवण मननादि उपायों (साधनों) का अनुष्ठान न करके पंडितमन्य धर्मोपदेशक के असत् उपदेशसे मैं कृतकृत्य होगया हूं,ऐसा जो दुराग्रह से मान लेता है, उस अज्ञ (मूर्ख) की अध्यात्म तुष्टि चार प्रकार की होती है। (कास्ताः) वे कौन सी हैं? प्रकृति, उपादान, काल तथा भाग्य इन नामों की वे चार तुष्टि हैं, अब उन प्रत्येक का क्रम से उल्लेख करेंगे।

तत्र प्रकृत्याख्या तुष्टिर्यथा-कस्यचिदुपदेशे-'विवेक साक्षात्कारोहि प्रकृतिपरिणामभेदः,तं च प्रकृतिरेव करोतीति कृतं तत्ध्यानाभ्यासेन,तस्मादेवमेवाऽऽस्स्ववत्स' इति-येयमुपदेष्टव्यस्यशिष्यस्य तुष्टिः प्रकृतौ- सा तुष्टिः प्रकृत्याख्या="अम्भ" उ (इत्यु) च्यते।

अर्थ—प्रकृति तुष्टि इसको कहते हैं,जैसे प्रकृति तथा पुरुष भिन्न है,ऐसा जो साक्षात्कार वहभी तो एक प्रकृति का ही परिणाम है, याने विवेक साक्षात्कार यह प्रकृति का ही परिणाम है, इससे उस साक्षात्कार को प्रकृति स्वतः ही करेगी, 'हे शिष्य' तुमको ध्यान और अभ्यास इनमें से कुछ भी करने की गरज नहीं है, इससे तुम स्वस्थ चित्त से बैठो, ऐसा गुरू के उपदेश देने पर 'उपदेश लेने वाले शिष्य को आनन्द होता है' क्योंकि हमारे गुरू महाराज ने विवेक ज्ञान प्राप्ति के लिये श्रवण मननादि सदृश कष्टद साधन करने के लिये नहीं कहा, किंतु प्रकृति के द्वारा ही हमको ज्ञान हो जायगा ऐसा कहा है। ऐसा समझ कर वह शिष्य प्रकृति ही में तृप्त होकर रहता है, यह प्रकृति नामक तुष्टि

है, यह तुष्टि निर्मल जलवत् होने से तथा संसार में मज्जन कराने वाली होने से इसको 'अम्भ' इस नामान्तर से भी पहचानते हैं।

'यातु प्राकृत्यपि विवेकख्यातिर्न सा प्रकृतिमात्राद्भवति, माभूत-सर्वस्य सर्वदा तन्मात्रस्य सर्वान् प्रत्यविशेषान्, प्रव्रज्यायास्तुसाभवति तस्मात्प्रव्रज्यामुपाददीथा', कृतं ते ध्यानाभ्यासेनायुष्मन् इत्युपदेशे या तुष्टिः=सोपादानाख्या='सलिलम्' इत्युच्यते।

अर्थ—"प्रकृतिके योगसे होने वाली जो विवेक ख्याति है वह भी केवल प्रकृति ही से नहीं होती, उसको प्रव्रज्या याने सर्व सन्यास रूप साधन की अपेक्षा रहती है, क्योंकि यदि ऐसा न मानोगे (केवल प्रकृतिही से विवेक साक्षात्कार मानोगे) तो केवल प्रकृति सब जीव मात्र को सर्वदा ही प्राप्त होने से विवेक ज्ञान भी सब लोगों को सब काल में हुआ करेगा, परन्तु ऐसा नहीं होता और ऐसा किसी का अनुभव भी नहीं है, अतः हे शिष्यों तुम लोग प्रव्रज्या सर्व कर्म (सन्यास) की दीक्षा लो, फिर काम हो जाता है, व ध्यान अभ्यास वगैरह की कोई गरज नहीं रहती, इस प्रकार के उपदेश से शिष्य को जो तुष्ट प्राप्ति होती है, वह उपादान नामक दूसरी तुष्टि है, इसको 'सलिल' ऐसा भी कहते हैं। 'सृ' धातु गत्यर्थ मानी गई है, उसी का यह 'सलिल' बना है, जैसे कोई भी वृक्षोत्पत्ति में जल की सहायता होना आवश्यक है, वैसे ही प्रकृति को साक्षात्कार के लिये प्रव्रज्या का सहायता होना आवश्यक है, इसीसे इसको 'सलिल' यह सांकेतिक नाम दिया है।

यातु प्रव्रज्याऽपि सद्यो न निर्वाणदेति सैवकालपरिपाकमपेक्ष्य सिद्धिं ते विधास्यति, अलमुत्तप्त तयातव' इत्युपदेशे या तुष्टिः सा कालाख्या-"ओघ" इत्युच्यते।

अर्थ—यह प्रव्रज्या भी सद्यः मोक्ष देने में असमर्थ है, याने सर्व कर्म सन्यास करते ही विवेक ज्ञान होकर उसके योग से पुरुष उसी समय मुक्त होता है, ऐसा कहीं पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये हे प्रिय पुत्र यद्यपि प्रव्रज्या लेते ही मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ तो भी तुम उत्तप्त (व्याकुल) मत हो, क्योंकि प्रत्येक कार्य को काल की अपेक्षा रहती है, यह जान लो। प्रव्रज्या योग्य काल पाते ही

तुमको सिद्ध (मुक्त) देगी । ध्यानादि कष्ट उपाय करने की कोई जरूरत नहीं, इस उपदेश को सुन कर शिष्य को जो तुष्टि प्राप्त होती है, उसको 'काल' नामक तुष्टि कहते हैं, इसीका दूसरा नाम 'ओघ' (मेघ) है, जैसे सब वस्तु उत्पन्न होने में मेघ-वृष्टि यही मुख्य कारण है, तथापि उसको भी काल की अपेक्षा रहती है, याने पानी गिरने के साथ ही धान्य पककर तैयार नहीं होता । किन्तु दो तीन मास के बाद तैयार होता है, वैसे ही यहां पर प्रव्रज्या को भी कुछ काल की अपेक्षा रहती है, दृष्टान्त तुल्य होने से इसको 'मेघ' यह सांकेतिक नाम दिया है, यह तीसरे तुष्टि का विवेचन हुआ है ।

'या तु न प्रकृते र्न कालान्नाप्युपादानाद्विवेकख्यातिः, अपितु भाग्यादेव, अतएव मदालसापत्यान्यतिबालानिमातुरुपदेशादेव विवेक ख्यातिमन्ति मुक्तानि बभूवुः, तस्माद्भाग्यमेव हेतुर्नान्यद्' इत्युपदेशे या तुष्टिः सा भागाख्या='वृष्टिर्' उच्यते ।

अर्थ—विवेक ख्याति-प्रकृति, काल व प्रवज्यारूप उपादान इनमें से एक के भी योग से नहीं होती, वह तो केवल भाग्य ही से प्राप्त होती है, मदालसा के पुत्र बिलकुल बालक थे तो भी वे माता के उपदेश से वे काल सन्यास वगैरह एक की भी अपेक्षा न करके तत्काल विवेक सम्पन्न होकर मुक्त हो गये, ऐसा पुराण (महाभारत) में वर्णन है, इससे भाग्य यही एक विवेक ख्याति का कारण है, दूसरा कोई नहीं । अतः हे प्रिय शिष्यो ! यदि तुम्हारे भाग्य में होगा तो बिना ध्यानाभ्यास किये ही मुक्त हो जाओगे, यह सुनकर जो तुष्टि होती है, वह भाग्य नामक चौथी तुष्टि है, इसको 'वृष्टि' ऐसा भी कहते हैं, जैसे वृष्टि बीजों के अंकुरोत्पत्ति में सहायभूत है, यह विख्यात है । वैसे ही यह तुष्टि भी मोक्ष रूपी फल साधन करने में सहायकारी है, ऐसा जान करके इसको वृष्टि कहते हैं ।

बाह्या दर्शयति "बाह्याः" तुष्टयो "विषयो परमात्पञ्च" याःखल्वनात्मनः प्रकृतिमहदहंकारादीनात्मेत्यभिमन्यमानस्यवैराग्येसतितुष्टयस्ता "बाह्या" आत्मज्ञानाभावेसत्यनात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तेरिति ।ताश्च वैराग्येसति सम्भवन्ति तुष्टय इति वैराग्य हेतु पञ्चत्वाद्

वैराग्यात्पर्यायपञ्च, तत्पंचत्वात्तुष्टयः "पंच" इति । उपरम्यते-ऽनेनेति उपरमो=वैराग्यम्, विषयादुपरमो=विषयोपरमो-विषयाः= भोग्याः शब्दादयः पञ्च, उपरमा अपि पञ्च, तथाहि अर्जन रक्षण क्षय भोग हिंसा दोष दर्शन हेतु जन्मानः पञ्चोपरमाभवन्ति, तथाहि-सेवादयोहि धनार्जनोपायाः,ते च सेवाकादीन् दुःखाःकुर्वन्ति, दृप्यद् ईश्वरद्वाःस्थ दण्ड चण्डार्ध चंद्रजाम् । वेदनांभावयन्प्राज्ञः कः सेवा स्वनुषज्जते' । एवमन्ये ऽप्यर्जनोपायादुःखा इति विषयोपरमे या तुष्टिः सैषा 'पारम्' इत्युच्यते ।

अर्थ—अब बाह्य तुष्टि कौनसी है सो बतलाते हैं, वैराग्य उत्पन्न होने पर उस वैराग्य से प्रकृति, महत् अहंकार अनात्म रूप पदार्थों को आत्मा मानने वाले पुरुष को पांच प्रकार का आनन्द होता है, वही (आनन्द) पांच बाह्य तुष्टि है, उनको बाह्य कहने का कारण यह कि (आत्मज्ञानाभावे) वे आत्म ज्ञान के बिना ही अनात्मा का आश्रय करके प्रवृत्ति हुई रहती है, अर्थात् इन तुष्टियोंका विषय अनात्मा होने से और अनात्मा यह आत्मासे बाह्य होने से उनको बाह्य कहते हैं और पूर्वोक्त जो चार तुष्टि हैं, उनका विषय आत्मा है । तथा आत्मा का आश्रय करके प्रवृत्त हुई तुष्टि 'अध्यात्म' तुष्टि कहाती है, यही दोनों (तुष्टियों) में भेद है । (ताश्चेति) ये जो बाह्य तुष्टियें हैं, सो वे वैराग्य होने पर होती हैं, नहीं तो नहीं होती । वैराग्य के कारण पांच हैं, इसी से इन तुष्टियों के भी पांच भेद होते हैं, मूल कारिका में 'विषयो परमात्' पद है जिसके द्वारा उपरम होता है, उपरम याने वैराग्य विषय से उपरम्, विषयो परम्, विषय याने भोग्य, शब्दादि भोग्य गुण पांच होने से उनसे होने वाले उपरम् भी पांच हैं, वे इस तरह अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग तथा हिंसा इन पांच दोषों के देखने से इनसे होने वाले उपरम भी पांच हैं, अब इन पांचों में से एकैक का सोदाहरण स्पष्ट विवेचन करेंगे । (सेवादयो) सेवा, उद्योगादि धन पैदा करने के उपाय हैं । परन्तु धनी लोग सेवकादिकों को बड़ा दुःख देते हैं, (श्लोकार्थ) क्योंकि दुष्ट मालिक के दरवाजे पर मत्तद्वारपाल के हाथ की मुष्टिका मिलने से होने वाली वेदना जिसके चित्त से न उतरी होगी, अर्थात् जिसको उस दुःख का स्मरण होगा, ऐसा कौन सा अज्ञमन्द सेवक है जो सेवा

में आसक्त होगा। मालिक सेवक को बाहर भेज देता है, गाली देता है, दंड करता है, नौकरी (एकाधवख्त देर हो जाने से) काट लेता है, मन में जैसी लहर आई वैसा काम करता है, इतना करके भी पेट भर अन्न नहीं देता, ऐसी बातोंको देखकर केवल द्रव्य प्राप्त करना यही जिसका मुख्य ध्येय है, उसे छोड़कर कौन ऐसे श्ववृत्ति का अंगीकार करेगा ? ऐसा उक्त श्लोक का तात्पर्य है। अस्तु, व्यापारादि अन्य धनोपार्जन साधनोंमें भी कुछ कम दुःख नहीं होता ऐसा बिचार करके धन के विषय में जिसको विरक्ति हो जाती है, उस विरक्त द्वारा प्राप्त होने वाली जो तुष्टि उसको 'पार' ऐसा कहते हैं, क्योंकि वैराग्य द्वारा वह तुष्टि प्राणी को संसार से पार कर दिया करती है।

तथा 'अर्जितं धनंराजचौराग्नि जलौघादिभ्यो विनङ्क्ष्यतीति तद्रक्षणे महद् दुःखम्' इतिभावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा द्वितीया 'सुपारम' उच्यते।

अर्थ—वैसे ही प्राप्त किया धन, राजा, चोर, अग्नि, जलकापूर इत्यादिकों के आघात में नष्ट न होवे, अतः उसका प्राण से अधिक रक्षण करना पड़ता है, तथा उस (रक्षण करने) में भी बड़ा दुःख होता है, ऐसा सोचकर विचारवान पुरुष धन विषय में विरक्त हो जाता है, इस विरक्त से होने वाली जो तुष्टि यह बाह्य तुष्टियों में से दूसरी तुष्टि है, इसको सुपारम् कहते हैं, कारण यह प्राणी को वैराग्य द्वारा सहज संसार सागर से पार कर देती है।

तथा 'महतायासेनार्जितम् धनं भुज्यमानं क्षीयते' इति तत्प्रक्षयं भावयतो विषयो परमे या तुष्टिः सा तृतीया 'पारावारम' उच्यते।

अर्थ—वैसे ही अत्यन्त कष्ट से प्राप्त किया धन उसका मनमाना उपभोग करने से क्षय हो जाता है, ऐसा सोचकर मनुष्य (उसके नाश की भावना करते) को धन के विषय में विरक्त हो जाता है और इस वैराग्य द्वारा उसको पारावार नामक तृतीया तुष्टि प्राप्त होती है, पारावार याने जिससे श्रेष्ठ-संसार पार करने के लिये दूसरा साधन नहीं।

एवं 'शब्दादि भोगाभ्यासात् प्रवर्धन्ते कामाः' ते च विषया प्राप्तौ

कामिनं दुःखाः कुर्वन्ति; इतिभोग दोषं भावयतो विषयो परमे या तुष्टिः सा चतुर्थी 'अनुत्तमाम्भ' उच्यते।

अर्थ—वैसे ही शब्दादि विषयों का पुनः २ भोग लेने से विषयों में प्रवृत्ति बढ़ती जाती है और फिर इष्ट विषय न मिलने पर वे विषय कामी पुरुष को अत्यन्त दुःख देते हैं, इससे विषय भोग में भी सिवाय दुःख के और कुछ नहीं है, ऐसा बिचार करनें वाले पुरुष के अन्तःकरण में विरक्ति हो जाती है, तथा उससे मिलने वाली तुष्टि 'अनुत्तमाम्भ'' नामक चौथी तुष्टि है, अनुत्तम याने उत्कृष्ट अम्भ याने अंकुर, तद्वत् विवेक ख्याति करने वाली।

एवं नानुपहत्य भूतानि विषयोपभोगः सम्भवति' इति हिंसादोष दर्शनाद्विषयो परमे या तुष्टिः सा पञ्चमी 'उत्तमाम्भ' उच्यते।

अर्थ—प्राणियों को दुःख दिये बिना अपने को इष्ट भोग नहीं प्राप्त हो सकते, अर्थात्–विषयोपभोग में हिंसादि दोष अवश्य होते हैं, ऐसा सोचकर जो विषय के विषय में विरक्त होता है, उसको 'उत्तमाम्भ' नामक पांचवीं तुष्टि प्राप्त होती है।

एवमाध्यात्मिकीभिश्चतसृभिर्बाह्याभिश्च पंचभिर् "नवतुष्टयोऽभिमताः" ॥५०॥

अर्थ—इस तरह चार आध्यात्मिक तथा बाह्य मिलकर नव तुष्टियें मानी गई हैं।

गौण मुख्य भेदैः (दाः) सिद्धीराह—

अर्थ—अब गौण तथा मुख्य भेद युक्त सिद्धियों का वर्णन करते हैं

ऊहः-शब्दोऽध्ययनं-दुःख विघातास्त्रयः-सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

अर्थ—तीनों दुःखों का घात, अध्ययन, तर्क, सुहृत् प्राप्ति तथा विवेक शुद्धि ऐसी आठ सिद्धियां हैं, सिद्धि के पहले जो तीन प्रकार का प्रत्यय है, वह अंकुश है।

विहन्य मानस्य दुःखस्य त्रित्वात्तद्विघातास्त्रय इतीमा मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः, तदुपायतयात्वितरागौण्यः पंच सिद्धयः, ता अपि हेतु हेतुमत्तय।

व्यवस्थिताः। तत्राऽऽद्याऽध्ययन लक्षणा सिद्धिर्हेतुरेव मुख्यास्तु सिद्धयो-हेतुमत्यएव, मध्यमास्तु हेतु हेतुमत्यः। विधिवद्गुरुमुखादध्यात्म विधानामक्षरस्वरूप ग्रहणम्=अध्ययनं, प्रथमासिद्धिः 'तारम्' उच्यते।

अर्थ—उपायों के द्वारा नष्ट होने वाले दुःख के तीन प्रकार हैं और तीन प्रकार होने से उसके नाश भी तीन माने गये हैं, यही तीनों सिद्धियां मुख्य हैं तथा इतर ५ सिद्धियां गौण हैं, जिसका विषय अन्य पदार्थ (इच्छा) के आधीन नहीं रहता, वह मुख्य सिद्धी तथा जिसका विषय अन्य पदार्थ (इच्छा) के आधीन रहता है, वे गौण सिद्ध हैं, दुःख का नाश होना यह इच्छा दूसरे कोई भी पदार्थ के आधीन नहीं रहती, किन्तु वह स्वाभाविक है, दुःख नाश होना इस इच्छा का विषय दुःख नाश यही है, अर्थात् दुःख नाश यह मुख्य सिद्धी है, वैसे ही दुःख का नाश होना इस इच्छा से अपने को उसके उपाय की इच्छा होती है, अर्थात् वेदाध्ययनादि उपायों की इच्छा, दुःख का नाश होना इस इच्छा के आधीन है, अतः उसका वेदाध्ययनादि विषय यही गौण सिद्धी है। अस्तु (ताश्रपति) ऊपर निर्दिष्ट पांच गौण सिद्धियों में कुछ हेतु रूप हैं, कुछ कार्य रूप हैं और कुछ कारणरूप हैं, सारांश वे सब कार्य कारण रूप से व्यवस्थित हैं। (तत्राद्येति) उसमें से अध्ययन रूप सिद्धी वल हेतुरूप है। (मुख्यास्तु) उपर कही हुई जो तीन मुख्य सिद्धियां वे हेतु केवाली (कार्यरूप) हैं। (मध्यमास्तु)और शेष चार सिद्धियां कार्य कारणरूप (हेतु व हेतु वाली) हैं, अब क्रम से उनके नाम, व रूप कहते हैं।(विधिवत्) यथा योग्य गुरुमुख से अध्यात्म शास्त्र (विद्या) के अक्षरों का ग्रहण करना यही अध्ययन है, यही आद्य (पहिली) सिद्धी है, इसीको (सांकेतिक नाम से) "तार" ऐसा कहते हैं।

तत्कार्यं शब्दः='शब्द' इति पदं–शब्द जनितमर्थज्ञानमुपलक्षयति कार्ये कारणोपचारात्, साद्वितीया सिद्धिः 'सुतारम्' उच्यते। पाठार्थाभ्यां तदिदं द्विधाश्रवणम्।

अर्थ—(तत्कार्य) उसका कार्य शब्द है, यह दूसरी सिद्धि है, परन्तु वस्तुतः शब्द यह अध्ययन का कार्य नहीं है, क्योंकि शब्द की आवश्यकता

अध्ययन के पहिले ही रहती है, उसके बिना अध्ययन कैसे हो सकता है ? इसलिये शब्द इस पद का अर्थ–शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ऐसा जानना। (कार्ये कारणोपचारात्) क्योंकि कार्य को कारण का नाम देना भी व्यवहार में प्रघात है, इस शब्द नामक दूसरी सिद्धि को 'सुतार' ऐसा कहते हैं, वेदार्थ का ज्ञान होने पर केवल अध्ययन से शब्द अधिक श्रेष्ठ है, अर्थात् अध्ययन की अपेक्षा सहज फल देता है, अतः उसको 'सुतार' कहते हैं।

"ऊह:"=तर्क: आगमा विरोधि न्यायेनागमार्थ परीक्षणम्। परीक्षणं च=संशय पूर्वपक्ष निराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनं, तदिदं मननम्' आचक्षते आगमिन:, सा तृतीया सिद्धिः 'तारताम्' उच्यते।

अर्थ—आत्मा का ज्ञान कराने वाले वेद के भाग का केवल अक्षर ग्रहण करना या अर्थ समझ लेना ऐसा यह दो प्रकार का श्रवण है, अब 'ऊह' नामक तृतीय सिद्धि का वर्णन करते हैं, 'ऊह' याने वेद शास्त्र के अविरुद्ध याने श्रुति सम्मत शास्त्रानुकूल न्याय द्वारा वेदार्थ का परीक्षण करना। (परीक्षण मिति) परीक्षण यानी संशय तथा पूर्व पक्ष इनका निराकरण करके उत्तर पक्षकी स्थापना करना, इसी को शास्त्रकार मनन कहते हैं, यह हमारी 'ऊह' (तारातार)संज्ञक तीसरी सिद्धि है, अध्ययन व अर्थ ज्ञान, इन श्रवण द्वय से मनन द्वारा शीघ्र सिद्धी होती है, इसी से इसको 'तारातार' संज्ञा दी गई।

स्वोत्प्रेक्षितंमननममननमेवासुहृत्सम्मत मिति द्वितीयं मननमाह "सुहृत्प्राप्ति:"—न्यायेन स्वयं परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्दधते–नयावद् गुरुशिष्य सब्रह्मचारिणांसंवादकानांप्राप्ति:="सुहृत्प्राप्ति:" सा सिद्धिश्चतुर्थी 'रम्यक' उच्यते।

अर्थ—(परन्तु) केवल अपने ही कल्पना से माना गया यह मनन, जब तक सुहृत्प्राप्ति होकर उनको यह मान्य है, ऐसा सिद्ध नहीं होता, तब तक वह अमन नहीं है, इसी से सुहृत्प्राप्ति यह दूसरा मनन माना गया है, स्वबुद्धि से न्याय ठहराकर उसके द्वारा यद्यपि वेदार्थ की परीक्षा की गई तो भी उसके विषय में (यह मेरा सोचा हुआ अर्थ सत्य है या मिथ्या) मन संशयित हुआ ही करता है। (नेति) व जब तक गुरु, सहपाठी शिष्य इनके साथ में उस

विषय की चर्चा होकर वेदार्थ का निश्चय न किया जाय, तब तक मन संशय युक्त ही रहता है, इसी से गुरु शिष्य, ब्रह्मचारी इत्यादि तत्ववाद या चर्चा करने वालों की प्राप्ति होना यही सुहृत् प्राप्ति है, यह चतुर्थ सिद्धि को 'रम्यक' ऐसा कहते हैं।

"दानं च"=शुद्धिविवेक ज्ञानस्य-"दैपशोधने" इत्यस्माद्धातो दान पद व्युत्पत्तेः। यथाह भगवान् पतञ्जलिः-"विवेक ख्यातिरविप्लवाहानोपायः"। अविप्लवः=शुद्धिः, सा च सवासन संशय विपर्यासानां परिहारेण विवेक साक्षात्कारस्य स्वच्छ प्रवाहेऽव स्थापनं, सा च न विनादरनैरन्तर्य दीर्घकालसेविताभ्यास परिपाकाद्भवतीति दानेन सोऽपि संगृहीतः, सेयं पंचमी सिद्धिः 'सदा मुदितम्' उच्यते।

अर्थ—दान यह पांचवीं सिद्धि है, दान इसका अर्थ-विवेक ज्ञान की शुद्धि ऐसा यहां समझना, 'दैप शोधने' इस धातु से 'दान' यह रूप सिद्ध किया है, भगवान पतंजली ने अपने योग सूत्र में 'विवेक ख्याति रविप्लवा हानोपायः" ऐसा सूत्र दिया है, इसका अर्थ यह है कि दृक् (पुरुष) दृश्य (सत्वादि गुण) ये प्रथक २ हैं, उनका ज्ञान यही ख्याति परन्तु यह ख्याति जब अविप्लवा (मिथ्या ज्ञान रहिता) हो करके सर्वदा स्थिर रहती है, तब वह विविध दुःख के हानि (मोक्ष) का उपाय होती है। सारांश विप्लव शून्य विवेक ख्याति ही मोक्ष का उपाय है। यह अर्थ व्यासादि योग सूत्र के व्याख्याताओं को भी मान्य है, अब इस ग्रंथ का इस विषय में क्या कहना है सो देखना चाहिये, अविप्लवा (शुद्धि) वासना सहित अखिल विपरीत ज्ञान का त्याग करने पर विवेक साक्षात्कार के स्वच्छ प्रवाह में अवस्थान (स्थिर) होना यही शुद्धि है, अर्थात् वासना सहसंशयादिकों का नाश हो करके साक्षात्कार को सदा अन्तःकरण में रहना यही अविप्लवा विवेक ख्याति है। परन्तु इस तरह की विवेक ख्याति प्राप्त करना सुलभ बात नहीं इसके लिये निरन्तर एक सरीखा दीर्घ काल तक अत्यन्त आदर पूर्वक अभ्यास करने पर उसका दृढ़ परिपाक होने के पश्चात् उक्त विवेक ख्याति प्राप्ति होती है, यद्यपि यहां पर दान को शुद्ध बिवेक ख्याति की सिद्धि ऐसा कहा है, तथापि

उसमें केवल उक्त अभ्यास का भी संग्रह करना, क्योंकि दान कार्य है, तथा कार्य के साथ कारण की गणना करना यह व्यवहार है इस पांचवीं सिद्धि को 'सदा मुदित' ऐसा कहते हैं, यह सदा सबको आनन्द देने वाली है, अतः उक्त नाम युक्त ही है।

तिस्रश्च मुख्याः सिद्धयः-प्रमोद मुदित मोदमानाः ॥ इति "अष्टौ सिद्धयः" ॥

अर्थ—प्रथम बतलाई हुई जो तीन मुख्य सिद्धियां हैं, उनके प्रमोद, मुदित, मोदमान ऐसे नाम हैं, आध्यात्मिक दुःख का नाश होना यह सबकी इच्छा रहती है, इससे उस दुःख के नाश होने पर सबको आनन्द होना स्वाभाविक है, अतः उसको प्रमोद कहते हैं, वैसे ही आधिभौतिक दुःख नाश को मुदित कहते हैं, तथा आधिदैविक दुःख नाश को मोदमान कहते हैं, अस्तु, इस तरह आंठों सिद्धियों का वर्णन बतलाया गया।

अन्ये व्याचक्षते-"विनोपदेशादिनाप्रागभवीयाभ्यास वशात्तत्वस्य स्वयमूहनं यत् सा सिद्धिः="ऊहः" यस्य सांख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य ज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः="शब्दः"-शब्द पाठान्तर भावात्। यस्य शिष्याचार्य संबन्धेन संवादेन सांख्यशास्त्रंग्रंथतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञान मुत्पद्यते साऽध्ययन हेतुकासिद्धिः="अध्ययनम्"। "सुहृत्प्राप्तिर्" इति। यस्याधिगत तत्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमुत्पद्यते सा ज्ञानलक्षणा सिद्धिस्तस्य 'सुहृत्प्राप्तिः"। "दानं च" सिद्धि हेतुः-धनादिदाने नाराधितो ज्ञानी ज्ञानं प्रयच्छति। अस्य च युक्तायुक्तत्वेसूरिभिरेवावगन्तव्ये इतिकृतं परदोषोद्भावनेन सिद्धान्त मात्र व्याख्यान प्रवृत्तानाम्" इति।

अर्थ—(अन्ये) दूसरे इन सिद्धियों का व्याख्यान अन्य प्रकार से करते हैं। यथा—

(१)उपदेश के बिना ही पूर्व जन्म में किये हुये अभ्यास के योग से तत्व का ज्ञान स्वतः (अपनेआप) होना यही 'ऊह' नामक सिद्धि है।

(२) कोई एक सांख्यशास्त्र सीखने वाला विद्यार्थी सांख्य शास्त्र का पाठ गुरु द्वारा लेता होय, ऐसे वक्त दूसरा कोई उसको सुनकर ही

तत्व का ज्ञान ले लेता हो, ऐसे तत्व ज्ञानको 'शब्द' नामक सिद्धि कहना चाहिये क्योंकि शब्द पाठ के पश्चात् यह सिद्धि प्राप्त हुई रहती है।

(३) जिसको आचार्य तथा शिष्य इसके संवाद द्वारा या सांख्यशास्त्र ग्रन्थतः अर्थतः सीखने पर तत्व ज्ञान होता है, उसकी वह सिद्धि अध्ययन के योग से प्राप्त होने से उसको अध्ययन (सिद्धि) कहना चाहिये।

(४) जिसको तत्व ज्ञानी आप्त पुरुष का समागम होने से विवेक ज्ञान होता है, उस सिद्धि को सुहृत्प्राप्ति सिद्धि कहना चाहिये।

(५) दान यानी सिद्धि प्राप्ति के लिये द्रव्यादि देकर ज्ञानी महात्मा की आराधना करना, फिर दान से संतुष्ट हुआ ज्ञानी दाता को तत्व ज्ञान का उपदेश करता है, यह दान संज्ञक पांचवीं सिद्धि है, आद्य तीन सिद्धियों के विषय में मतभेद नहीं है, अब कौमुदीकार (भट्टो जी दीक्षित) कहते हैं कि हम ये (उक्त) दोनों मत विद्वानों के सन्मुख उपस्थित करते हैं, इनमें से युक्त कौनसा है तथा अयुक्त कौनसा है, इसकानिर्णय आप ही कर लेवें, क्योंकि केवल सांख्य सिद्धान्तों का व्याख्यान करने के लिये प्रवृत्त हुये हमको दूसरे के व्याख्यानों में के दोष प्रगट करने से क्या लाभ है ? अस्तु।

सिद्धि तुष्टि विपर्ययेणाशक्तिबु द्धिबधः सप्तदशधेष्टव्यः

अर्थ—पीछे की कारिका में तथा इसमें तुष्टि व अशक्ति इनका विस्तार पूर्वक विवेचन किया, इनके विपर्यय से यानी नव प्रकार के अतुष्टि से व आठ प्रकार के असिद्धि से सत्रह प्रकार का बुद्धि बध होता है।

अत्र प्रत्यय सर्गे सिद्धिरुपादेयेति प्रसिद्धमेव, तन्निवारण हेतवस्तु विपर्ययाशक्तितुष्टयोहेया इत्याह–"सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः" इति। "पूर्व" इति विपर्यया शक्ति तुष्टिः परामृशति। ताः=सिद्धि करिणी नामं-कुशो–निवारकत्वाद्। अतः सिद्धिपरिपन्थित्वादंकुश इवेति विपर्यया शक्ति तुष्टयो हेयाइत्यर्थः।

(अत्रेति) यह प्रत्यय सर्ग ४६ वें कारिका से आरम्भ हुआ था और यहां तक कहा गया, इनमें से सिद्धि ग्राह्य हैं, यह बात स्पष्ट है। (तन्निवारण हेत वस्तु) परन्तु उन सिद्धियों के प्रतिबंधक विपर्यय, अशक्ति, अतुष्टि नामक

प्रत्यय सर्ग का त्याग ही योग्य है, ऐसा इस कारिका के चौथे चरण से कहते हैं। (पूर्वोऽङ्कुश स्त्रिविधः) इसका अर्थ यह है कि–विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि इन नामों का प्रत्यय सर्ग है, कारिका में 'पूर्व' जो पद है, वह विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि इन तीनों का परामर्श करता है, यानी सिद्धि के पहिले का जो विपर्यय अशक्ति, व तुष्टि नामक प्रत्यय सर्ग व सिद्धि के अध्ययनादि कारणों का निवारण किया करता है, इसलिये उसको सिद्धि का त्रिविध अंकुश कहते हैं, तस्मात् इस अंकुश त्रय की सिद्धि को विघ्न प्रद होने के कारण त्याग ही करना चाहिये।

स्यादेतत् पुरुषार्थ प्रयुक्ता सृष्टिः, स च पुरुषार्थः प्रत्यय सर्गाद्वा तन्मात्र सर्गाद्वा सिध्यतीति कृतमुभय सर्गेणेत्यत आह—

अर्थ—शंका–पुरुषार्थ प्रयुक्तसृष्टि होती है, याने पुरुष को भोग व मोक्ष देने के लिये प्रकृति द्वारा सृष्टि होती है, (ऐसा आपने पीछे कहा है,) परन्तु वह पुरुषार्थ–प्रत्यय सर्ग से या तन्मात्रा सर्ग के योग से सिद्ध होगा तो दोनों सर्गों की उसको क्या आवश्यकता है ?

समाधान—इन दोनोंकी आवश्यकता है, यही निम्न कारिका द्वारा सिद्ध करते हैं।

न विनाभावैर्लिङ्गं न लिङ्गेन भाव निर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्योभावाख्यस्तस्माद्द्वेधा प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२

अर्थ—प्रत्यय सर्ग के बिना तन्मात्र सर्ग व्यर्थ है, तथा तन्मात्र सर्ग के बिना प्रत्यय सर्ग निरुपयोगी है, तस्मात् लिङ्गाख्य तथा भावाख्य ये दोनों प्रकार का सर्ग प्रारम्भ होता है अर्थात् प्रवृत्त होता है।

"लिङ्गम्" इति तन्मात्र सर्गमुपलक्षयति, "भावैर्" इति च प्रत्यय सर्गम्। एतदुक्तं भवति–तन्मात्र सर्गस्य पुरुषार्थ साधनत्वं, स्वरूपंच,– 'न' प्रत्ययसर्गाद् "विना" भवति–एवं प्रत्यय सर्गस्य स्वरूपं च, पुरुषार्थ साधनत्वं च, 'न' तन्मात्र सर्गादृते–इत्युभयथासर्गप्रवृत्तिः।

अर्थ—कारिका में जो "लिंग" यह पद है, वह पद तन्मात्रा का बोध कराता है, तथा कारिकागत "भाव" यह पद प्रत्यय सर्ग का ज्ञान कराता है,

इससे कारिका के पूर्वार्ध चरण का तात्पर्य ऐसा होता है कि तन्मात्र सर्ग का स्वरूप पुरुषार्थ का साधन है, यह प्रत्यय सर्ग के बिना सिद्ध नहीं होता, वैसे ही प्रत्यय सर्ग का स्वरूप तथा वह सर्ग पुरुषार्थ का साधन है, यहभी तन्मात्र सर्ग के बिना सिद्ध नहीं होता, अतः दोनों सर्गों की प्रवृत्ति होना अवश्यक है।

भोगः=पुरुषार्थो न भोग्यान्=शब्दादीन् भोगायतनं च=शरीरद्वय मन्तरेण सम्भवतीत्युपपन्नस्तन्मात्रसर्गः-एवं स एव भोगोभोग साधनानि=इन्द्रियाण्यन्तः करणानि चान्तरेण न संभवति, न च तानिधर्मादिभिर्भावैर्बिना संभवन्ति, न चापवर्गहेतुर्विवेक ख्यातिरुभयसर्गेणाबिनेत्युपपन्न उभयविधः "सर्गः" अनादित्वाच्च बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रय दोषभावइति। कल्पादावपि प्राचीन कल्पोत्पन्न भावलिङ्ग संस्कार वशाद्भाव लिंगयोरुत्पत्तिर्नानुपपन्नेतिसर्वमवदातम्।

अर्थ—क्योंकि (भोग) भोग नामक पुरुषार्थ, भोग्य शब्दादि विषय तथा भोग का स्थान स्थूल सूक्ष्म रूप शरीर द्वय इनके बिना हो ही नहीं सकता, अतः तन्मात्र सर्ग होना ही चाहिये। (एवमिति) वैसे ही वही भोग, इंद्रियों के तथा अन्तःकरण के बिना नहीं हो सकता, कारण इन्द्रियां भोग की साधन हैं और इन्द्रियादि धर्मादि भावों के बिना होना असंभव है। (नेति) वैसे ही अपवर्ग में कारण होने वाली विवेक ख्याति इन उक्त दोनों सर्गों के बिना नहीं हो सकती है, इसलिये दोनों सर्गों का होना परमावश्यक है।

शंका—इन उभय विध सर्गों में से पहिला सर्ग कौनसा व दूसरा कौनसा है ? जो आद्य होगा उसके पहिले होने का कारण क्या ? याने धर्मादि प्रथम या शरीरादि ? यदि धर्मादि प्रथम हुये ऐसा कहें तो धर्माधर्मादिकों के बिना उनकी उत्पत्ति कैसे हुई, यहां ऐसा अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त हुआ है, जिसके समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं। (अनादित्वाच्च) बीज प्रथम हुआ या वृक्ष, इस प्रश्न के सदृश ही यह प्रश्न है, तथा ऐसे प्रश्नों का उत्तर 'अनादि' इसी एक शब्द से देना पड़ता है। अनादि=आदि जिसमें कोई नहीं या आदि शून्य, तो बीजांकुरवत् यह उभय विध सर्ग अनादि है, इससे अनादि दोष प्राप्त नहीं होता, कल्प के आरम्भ में जो सृष्टि हुई, उस सृष्टि में इन दो प्रकार के सर्गों का कारण क्या ?

समाधान—पूर्व कल्प में उत्पन्न हुये भावों के तथा लिंगों के संस्कार प्रलय काल में भी थे और उन्हीं संस्कारों से सृष्टि आरम्भ में भाव व लिंग की उत्पत्ति हुई, कल्प की परम्परा भी बीज वृक्षवत अनादि है, इससे इस कल्प में किसी प्रकार का (अन्योन्याश्रय) दोष नहीं है।

विभक्तः प्रत्ययसर्गः, भूतादिं सर्गं च विभजते—

अर्थ—प्रत्यय सर्ग का विस्तृत वर्णन किया, अब भूतादि सर्ग का विभाग करते हैं।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधाभवति।

मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

अर्थ—देवताओं का सर्ग आठ प्रकार का, तिर्यग् योनि का सर्ग पांच प्रकार का, व मनुष्य योनि का सर्ग एक प्रकार का है, इस तरह भौतिक सर्ग थोड़े से में बतलाया।

ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्रो, गान्धर्वो, याक्षो, राक्षसः, पैशाचः इत्यष्टविधो="दैवः" सर्गः। "तैर्यग्योनश्च पंचधाभवति"–पशु मृग पक्षि सरीसृपस्थावरा इति। मानुषकश्चैकविध" इति। ब्राह्मणत्वाद्यवान्तर जातिभेदा विवक्षया-संस्थानस्य चतुर्ष्वपिवर्णेष्वविशेषात्। 'समासतः= 'भौतिकःसर्गः।" घटादयस्त्वशरीरत्वेऽपि स्थावरा एवेति।

अर्थ—ब्राह्मः=ब्रह्मदेव सम्बन्धी सर्ग, २ प्राजापत्य=प्रजापति सम्बन्धी सर्ग, ३ ऐन्द्र=इन्द्रलोक सम्बन्धी सर्ग, ४ पैत्र=पितृलोक सम्बन्धी सर्ग, ५ गान्धर्व= गन्धर्व लोक संबन्धी सर्ग, ६ याक्ष=यक्षलोक संम्बन्धी सर्ग, ७ राक्षस= राक्षस लोकसंबन्धी सर्ग, ८ पैशाच=पिशाच संबन्धी सर्ग ऐसा आठ प्रकार का देवसर्ग है, देवता लोक इन आठ प्रकार के योनि द्वारा उत्पन्न होते हैं।

गौ, भैंस इत्यादि पशु, हरिण शश इत्यादि मृग, तोता मैना इत्यादि पक्षी, सर्पादि सरीसृप, तथा वृक्षादि स्थावर पदार्थ, ऐसा तिर्यक् योनि में होने वाला पांच प्रकार का सर्ग है।

मनुष्य सर्ग एक ही प्रकार का है, ब्राह्मण क्षत्रियादि यह उनका अवां-तर भेद है, यह सूचित कराने के लिये यहां एक ही सर्ग कहाहै, जैसे पशु,पक्षी,

सर्पादिकों के आकार में भिन्नता देख पड़ती है, वैसी मनुष्य सर्ग में आकार भिन्नता नहीं है, किन्तु सब मनुष्यों के शरीर एक सरीखे होते हैं, इस तरह सब सर्ग संक्षेपतः बतलाये गये। (घटादयः) प्रायः घट,पट इत्यादि अवयव रहित निश्चेष्ट (चेष्टा रहित) पदार्थ हैं तो भी उनका स्थावर इस सर्ग में अन्तर्भाव होता है।

भौतिकस्यास्यसर्गस्यचैतन्योत्कर्ष निकर्ष तारतम्याभ्यामूर्ध्वाधोमध्य भावेन त्रैविध्यमाह—

अर्थ—यह ऊपर बतलाया हुआ (भौतिक) सर्ग–इसके भी ऊर्ध्व, मध्य, अधोभाव से तीन प्रकार होते हैं, तथा उसका ऐसा होने का कारण चैतन्य का उत्कर्ष व अपकर्ष इनकी न्यूनाधिकता है, यही दर्शाते हैं।

ऊर्ध्वं सत्व विशालस्तमो विशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

अर्थ—यह ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त–ऊर्ध्वसर्ग सत्व विपुल, नीचे तमोबहुल, तथा मध्य रजो बहुल है।

"ऊर्ध्वं सत्व विशालः"=द्यु प्रभृति सत्यान्तो लोकः सत्व बहुलः। "तमो विशालश्च मूलतः सर्गः"=पश्वादि स्थावरान्तः, सोऽयं मोहमय त्वात्तमो बहुलः। भूर्लोकस्तु सप्तद्वीप समुद्रसन्निवेशः। "मध्ये रजो विशाल." धर्माधर्मनुष्ठान परत्वाद् :खबहुलत्वाच्च। तामिमांलोक संस्थितिं संक्षिपति–"ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः"। स्तम्ब ग्रहणेनोपलक्षणतया वृक्षादयोपि संगृहीताः।

अर्थ—भूलोक से लेकर सत्यलोक पर्यन्त जो ऊर्ध्व लोक हैं, वे सब सत्व बहुल हैं, अर्थात् उनमें सत्व गुण अधिक है, (तमो विशाला) पशु,पक्षी मृगादि स्थावरान्त जितने प्राणी हैं, वे सब तमो बहुल (तमोगुण विशेष) होते हैं, क्योंकि उन प्राणियों में तमोगुण का कार्य जो मोह वह विशेषता से रहता है, सात द्वीप तथा समुद्र इनसे युक्त जो यह भूलोक इसको मध्य लोक भी कहते हैं, इस मध्य लोक के प्राणी रजो बहुल (रजोगुण विशेष) होते हैं, क्योंकि धर्म व अधर्म इनके अनुष्ठान में इस लोक के प्राणी सदा तत्पर

रहते हैं, इससे इनको दुःख बहुत होता है, दुःख यह रज का कार्य है, परन्तु इन सब लोगों को मर्यादा (सीमा) कहां से कहां तक है, सो "ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्तः" इस वाक्य से संक्षेपतः कहा है, स्तम्ब इस शब्द से वृक्षादि स्थावर पदार्थों का समावेश किया है।

तदेवं सर्गं दर्शयित्वा तस्यापवर्ग साधन वैराग्योपयोगिनीं दुःख रूपतामाह—

अर्थ—इस तरह से सर्गों का वर्णन करके अब वह दुःख रूप है, यह बतलाते हैं, क्योंकि वह दुःख रूप है, यह बात निश्चय पूर्वक जानने के बाद ह उसके विषय में वैराग्य हुआ करता है, तथा वैराग्य यह मोक्ष का मुख्य साधन है।

तत्र जरामरण कृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्या विनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

अर्थ—शरीरादिकों में यह चेतन पुरुष जरा मरण इत्यादिकों से दुःख को प्राप्त होता है, क्योंकि लिंग=पुरुष से भिन्न है, ऐसा न समझने से उसको दुःख होता (हुआ करता) है, तस्मात् यह सब स्वभावतः ही दुःख है।

"तत्र"=शरीरादौ। यद्यपि विविधा विचित्रानंद भोगभागिनःप्राण-भृद्भेदाः। तथापि सर्वेषां 'जरामरण कृतं दुःखम्" अवशिष्टम्। सर्वस्य खलुकृमेरपि मरणत्रासो='मानभूवम्, 'भूयासम्' इत्येवमात्मकोऽस्ति। दुःखं च भयहेतुरिति मरणं "दुःखम्"।

अर्थ—कारिका में जो 'तत्र' यह पद है, इसका अर्थ शरीरादि में ऐसा करना(यद्यपि) प्रत्येक प्राणी का भाग्य प्रथक २ होने से उसको सुख दुःखादि विचित्र भोग भी भिन्न २ भोगना पड़ता है, कुछ प्राणियों को केवल दुःख, कई एक को सुख तथा दुःख मिश्रण होकर, कई एक को केवल सुख ही मिलता है, इस तरह मनुष्यों को भाग्यानुकूल प्राप्त होने वाले सुख दुःख में यद्यपि विचित्रता देखी जाती है, फिर भी उन सबको जरा, मरण, रोग इत्यादिकों के योग से होने वाला दुःख समान ही मिलता है, उसमें जरा भी अन्तर नहीं

पड़ता, अधिक तो क्या (कृमेरपोति) कृमी जैसे क्षुद्र कीड़ों को भी मरण से कैसा भय होता है, सो सबने देखा ही होगा, उसको भी सदा यही इच्छा रहती है कि हम को कभी दुःख न हो, मरण यह भय रूप होने से ही प्राणी को उससे भीति उत्पन्न हुआ करती है, अर्थात् दुःख यह भय का कारण है, मरण से सबको भय मालूम होता है, अतः मरण यह दुःख है ऐसा सिद्ध होता है, मरणवत्-वृद्धत्व, रोग इत्यादिकों से भी प्राणी को भय मालूम होता है,अतः वे अवस्थायें भी दुःख रूप ही हैं,यह निःसंशय है, अब इस विषय में कोई यह शंका करे कि—

स्यादेतत्-दुःखादयः प्राकृता बुद्धि गुणाः,तत्कथमेते चेतन सम्बंधिनो भवन्ति ? इत्यत आह-"पुरुष" इति। पुरि=लिंगे शेत इति 'पुरुषः'। लिंगं च तत्संबंधीति चेतनोऽपि तत्संबंधी भवतीत्यर्थः कुतः पुनर्लिङ्ग संबंधि दुःखं पुरुषस्य चेतनस्य ? इत्यत आह-"लिंगस्याविनिवृत्तेः" पुरुषाद् भेदा ग्रहाल्लिंगं धर्मानात्मन्यध्यस्यति पुरुषः। अथवा दुःख प्राप्ताव वधिराङ्ग कथ्यते-"लिङ्गं यावन्न निवर्त्तते तावद्" इति।

अर्थ—(दुःखादयेति) दुःखादि भाव ये प्रकृति से उत्पन्न हुये बुद्धिके गुण हैं, फिर वे चेतन जो पुरुष उससे सम्बन्ध कैसे रखते हैं ? इसका समाधान ऐसा है-पुरियाने शरीर शेते (रहता है) पुरिशेते याने लिंग शरीर में रहता है. वह पुरुष, ऐसी पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है, लिंग शरीर से सुख दुःखादि भावों का संबन्ध होता है. इस परम्परा से पुरुष का भी सुख दुःखादिकों से सम्बन्ध होता जाता है।

शंका—(कुतः) परन्तु लिंग से सम्बन्ध रखने वाला दुःख पुरुष से क्यों सम्बन्ध रखता है ?

उत्तर—लिंग पुरुष से भिन्न है, ऐसा बोध होने के कारण लिंग के जो धर्म हैं, उनको आत्मा के ही ये धर्म हैं, ऐसा मिथ्या ज्ञान 'पुरुष' कर बैठता है और वस्तुतः आत्मा का तथा सुखादिकों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।केवल अविवेक से उसका 'है' ऐसा भास होता है, या लिंगस्याबिनिवृत्तेः" इस पद का "लिंगस्य आबि निवृत्तेः" ऐसा पदच्छेद करना याने फिर लिंग से पुरुष

भिन्न है, ऐसा ज्ञान होने तक ही यह पूर्वोक्त दुःख प्राप्ति होती है, ऐसा अर्थ निष्पन्न होगा। और पहिले वाले अर्थ में "दुःखस्य अनिवृत्तेः ऐसा पदच्छेद किया था।

सारांश—यह दुःख तभी तक होता है जब तक विवेक ख्याति द्वारा (लिंग व पुरुष में) भिन्नता नहीं मालूम होती।

उक्तस्य सर्गस्य कारण विप्रतिपत्तीर्निराकरोति—

अर्थ—उक्त सर्ग का कारण क्या है ? यह बड़ा विवाद ग्रस्त प्रश्न होने से उसका निराकरण करते हैं।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादि विशेषभूत पर्यन्तः।
प्रतिपुरुष विमोक्षार्थं स्वार्थइव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

अर्थ—ऐसा यह महत्तत्व से लेकर विशेष (स्थूल) भूत पर्यन्त प्रकृति कृत सर्ग प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये है. जैसे कोई अपने लिये करता है, तद्वत् (इसी तरह) दूसरों के लिये किया जाने वाला (ऐसा) यह सर्ग है।

आरभ्यत इति "आरम्भः"=सर्गः महदादिभूम्यन्तः प्रकृत्यैव कृतो नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानो, नाप्यकारणः–अकारणत्वे ह्यत्यन्ताभावोऽत्यन्त भावोवास्यात्, न ब्रह्मोपादानः–चितिशक्तेरपरिणामात्। नेश्वराधिष्ठित प्रकृतिकृतः–निर्व्यापारस्याधिष्ठातृत्वासंभवात्। नहि निर्व्यापारस्तक्षा-वास्याद्यधितिष्ठति।

अर्थ—जिसका आरम्भ किया जाता है, उसको आरम्भ कहना चाहिये, तो आरम्भ=सर्ग महत्तत्व से लेकर विशेषभूत (स्थूल पृथिव्यादि) पर्यन्त प्रकृति का किया हुआ सर्ग है, सर्ग ईश्वर कृत है या इसका ब्रह्म उपादान (मूल) कारण है, ऐसा कहना युक्तितर नहीं, (नाप्यकारणेति) और न यह (सर्ग) कारण रहित ही है, क्योंकि यह कारण के विना ही हुआ है, ऐसा प्रतिपादन करने से एक तो यह नित्य ही रहेगा या बिलकुल उत्पन्न ही नहीं होगा, परन्तु अनुभव से देखने पर इन उक्त दोनों बातों में से एक भी सत्य नहीं मालूम पड़ती, क्योंकि सर्ग की उत्पत्ति तथा नाश कई प्रमाणों द्वारा सिद्ध होता है, तथा 'वह उत्पन्नही नहीं होगा' ऐसा किसी का अनुभवभी नहीं है,

'वह है' यही सबका प्रत्यक्ष अनुभव है, अतः यह कथन युक्ति संगत नहीं, यदि इस (सर्ग) का ब्रह्म उपादान कारण है, तथा उसी से इसकी उत्पत्ति होती है, ऐसा कहें तो यह भी ठीक नहीं जंचता, कारण चैतन्य स्वरूप अपरिणामी है, अपरिणामी ब्रह्म का परिणाम होना शशशृंगवत् है। (नेश्वराधिष्ठितेति) यदि यह कहें कि प्रकृतिप्रेरक ईश्वर उस ईश्वरसे अधिष्ठित प्रकृतिने यहसर्ग किया है, तो यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि कारण व्यापार शून्य ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता, जैसे (नहीति) व्यापार शून्य बढ़ई बसूला, आरी इत्यादिकों का अधिष्ठाता नहीं हो सकता, तस्मात् ये तीनों कल्पनायें अनुपपन्न हैं।

ननुप्रकृति कृतश्चेत्–तस्या नित्यायाः प्रवृत्तिशीलाया अनुपरमात् सदैव सर्गः स्यादिति न कश्चिन्मुच्येतेत्यतआह–"प्रतिपुरुष विमोक्षार्थं स्वार्थइवपरार्थ आरम्भः" इति। यथौदनकाम ओदनायपाके प्रवृत्त ओदन सिद्धौ निवर्तते–एवं प्रत्येकं पुरुषान् मोचयितुं प्रवृत्ता प्रकृतिर्यं पुरुषं मोचयति तं प्रति पुनर्न प्रवर्तते तदिदमाह–"स्वर्थइव" इति। स्वार्थे यथा-तथा परार्थ आरम्भ इत्यर्थः।

शंका—यदि यह सर्ग प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, तो उसका नाश किसी काल में (कभी भी) न होना चाहिये, क्योंकि यह प्रकृति तो सदा प्रवृत्तिशीला है, तो उसके नित्य प्रवृत्त रहने से सर्ग भी सदा बना ही रहेगा और ऐसा होने से कोई भी पुरुष मोक्ष को नहीं प्राप्त होगा।

समाधान—"प्रतिपुरुष" इस उत्तरार्ध से किया गया है, (यथेति) जैसे चावल सिझाने की इच्छा करने वाला पुरुष सिझाने (पाक) के लिये प्रवृत्त होता है, तथा पाक सिद्ध (तैयार) हो जाने पर उस क्रिया से निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रत्येक पुरुष को मोक्ष (मुक्त) करने के लिये प्रवृत्त हुई प्रकृती जिस पुरुष को मुक्त करती है, उसी के प्रति फिर नहीं प्रवृत्त होती (स्वार्थइव) प्रकृति की प्रवृत्ति यद्यपि वस्तुतः पुरुष के लिये ही होती है, परन्तु वह प्रकृति के लिये ही है ऐसा भास होता है, अर्थात् प्रकृति—मेरी यह प्रवृत्ति मेरे ही लिये है, दूसरों के लिये नहीं, ऐसा समझ कर (सर्ग) किया करती है।

स्यादेतत्-स्वार्थं, परार्थं वा चेतनः प्रवर्तते, न च प्रकृतिरचेतनैव भवितुमर्हति, तस्मादस्ति प्रकृतेरधिष्ठाता चेतनः, न च क्षेत्रज्ञाश्चेतना अपि प्रकृति मधिष्ठातुमर्हन्ति-तेषां प्रकृति स्वरूपानभिज्ञत्वात्, तस्मादस्ति सर्वार्थदर्शी प्रकृतेरधिष्ठाता, सचेश्वर इत्यत आह—

शंका—स्वार्थवश हो या परार्थवश हो, कैसी भी प्रवृत्ति होवे (परन्तु) चेतन पुरुष ही प्रवृत्त होता है, ऐसा ही कहना चाहिये, क्योंकि जड़ प्रकृति स्वतः के लिये या दूसरों के लिये प्रवृत्ति नहीं कर सकती, अतः प्रकृति का अधिष्ठाता तो कोई चेतन पुरुष ही होना चाहिये, परन्तु वह कौनसा ? यह सिद्ध करना जरा बिचार का काम है, (न च क्षेत्रज्ञ) क्षेत्रज्ञ 'जीव' यद्यपि चेतन है, तथापि वे प्रकृति के अधिष्ठाता नहीं हो सकते, क्योंकि उन (जीवों) को स्वतः ही प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान (भ्रांतिवश ही क्यों न हो) नहीं रहता, इन सब अर्थों का देखने वाला व जानने वाला ऐसा कोई अधिष्ठाता तो होना चाहिये, तथा वह ईश्वर ही है, इसका समाधान अग्रिम कारिका से देते हैं—

वत्सविवृद्धि निमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुष विमोक्ष निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

अर्थ—जैसे (जड़) दूध की प्रवृत्ति वत्स वृद्धि के लिये होती है, वैसे ही प्रधान की भी प्रवृत्ति पुरुषके मोक्ष के लिये होती है ।

दृष्टमचेतनमपि प्रयोजनं प्रतिप्रवर्तमानम् । यथा-वत्सविवृद्ध्यर्थं क्षीरमचेतनं प्रवर्तते-एवं प्रकृतिरचेतनाऽपि पुरुष विमोक्षणाय प्रवर्त्तिष्यते ।

अर्थ—जड़ पदार्थ भी प्रयोजन वश (किसी कार्यके उद्देश से) प्रवृत्त हुआ करते हैं, जैसे माता का दूध वह जड़ है,यह बात सब कोई जानते हैं,परंतु वह जड़ दूध बच्चे के लिये प्रवृत्त होता है, ऐसा प्रत्यक्ष देखने में भी है,याने बच्चे को सामने देखते ही स्तनों से दूध बाहर निकलने लगता है, तो जैसे उसकी प्रवृत्ति होती है, वैसे ही अचेतन प्रकृति भी पुरुष को मुक्ति के लिये प्रवृत्त होती है ।

न च क्षीरप्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठातृ निबन्धनत्वेन साध्यत्वान्न

साध्य व्यभिचार इतिसाम्प्रतं–प्रेक्षावतः प्रवृत्तेः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्तत्वात्। ते च जगत्सर्गाद्व्यावर्तमाने प्रेक्षावत् प्रवृत्तिपूर्वकत्वमपिव्यावर्त्तयतः। नह्यवाप्तसकलेप्सितस्य भगवतो जगत्सृजतः किमप्यभिलषितं भवति, नापिकारुण्यादस्य सर्गे प्रवृत्तिः।

शंका—(न चेति) वत्स के पुष्टि के लिये जो दूध की प्रवृत्ति होती है, वह भी तो ईश्वर की प्रेरणा (अधिष्ठातृत्व) ही से होती है, इसलिये प्रकृति के प्रवृत्ति में दूध का दृष्टान्त नहीं दे सकते।

समाधान—परन्तु उनका यह (उक्त) कथन ठीक नहीं है,क्योंकि विचार वान जो प्रवृत्ति करने वाला होता है, तो वह स्वार्थ, या कारुण्य इन दोनों में से किसी भी एक कारण द्वारा प्रवृत्त होता है, ऐसा नियम है, याने जहां जहां बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति होती है, वहां २ स्वार्थ या कारुण्य होना ही चाहिये, उसके बिना प्रवृत्त होना असंभव है, जगत की उत्पत्ति के विषय में देखा जाय तो वह किसी स्वार्थके लिये ही या कारुण्यभावसे हीहोती है,ऐसा नहीं कह सकते,अर्थात् जगत् की उत्पत्ति से स्वार्थ या कारुण्य का सम्बन्ध नहीं है, यह सिद्ध होने पर बुद्धि पूर्वक कर्म करने वाले पुरुष का भी उससे कुछ सम्बन्ध नहीं है,यह अनायासेन सिद्ध होता है, यदि कहो कि ईश्वर का कुछ स्वार्थ सम्बन्ध होगा तो यह भी कथन निरर्थक ही है, क्योंकि "नह्यवाप्त सकल स्येति" जिसकी सम्पूर्ण इच्छायें परिपूर्ण रहा करती हैं, इसी से उसको 'आप्तकाम' कहते हैं, ऐसे निस्पृह भगवान का संसार से संबंध जोड़ना या उसका जग निर्माण करने में स्वार्थ प्रयोजन होगा, ऐसी कल्पनायें करना भी निरी अज्ञता है, (नापिकारुण्यात्) यदि कहा जाय कि जीवों पर करुणा करने के लिये वह इस सृष्टि कर्म में प्रवृत्त होता है, तो यह भी कथन सयुक्तिक नहीं मालूम पड़ता।

प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौदुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यं, सर्गोत्तर कालं दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयदूषणं–कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति। अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः सुखिनएव जन्तून् सृजेन्न विचित्रान्।

अर्थ—क्योंकि (प्राक्) सृष्टि के पहिले जीवों की इंद्रियां, शरीर तथा विषय इत्यादि न उत्पन्न होने के कारण दुःख का लेश मात्र भी उनको अनुभव नहीं करना पड़ता; क्योंकि शरीर व इंद्रियों के बिना भोग भोगना अशक्य है, यह सबको प्रत्यक्ष है, तो फिर ईश्वर को करुणा आने का कारण क्या ? और किस वस्तु के नाश के विषय में करुणा की ? (सर्गोत्तरे) सर्ग के अनन्तर दुःखी प्राणियों को देखकर करुणा हुई ऐसा कहें,तो उसमें करुणा से सृष्टि, व सृष्टि से करुणा ऐसा अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होता है, इसका प्रतिकार करना अशक्य है, और दूसरा यह कि दुःखी प्राणियों को देखकर ही यदि ईश्वर सृष्टि रचता है तो फिर करुणा से प्रेरित ईश्वर अखिल संसार में सबको सुखी ही सुख उत्पन्न करता, सुखी, दुःखी,सुखी तथा दुःखी ऐसे जो विचित्र प्रकार दीख पड़ते हैं, ऐसा वह (करुणा से प्रेरित ईश्वर) कभी भी न उत्पन्न करता ।

"कर्मवैचित्र्याद्वैचित्र्यम्" इतिचेत्—कृतमस्यप्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन। तदनधिष्ठानमात्रादेवाचेतनस्यापि कर्मणः प्रवृत्त्युपपत्तेः—तत्कार्य शरीरेन्द्रिय विषयानुत्पत्तौ दुःखानुत्पत्तेरपिसुकरत्वात् । प्रकृतेस्त्वचेतनायाः प्रवृत्तेर्न स्वार्थानुग्रहो, न वा कारुण्यं, प्रयोजकमिति नोक्तदोष प्रसङ्गः। पारार्थ्य मात्रं तु प्रयोजकमुपपद्यते । तस्मात्सुष्ठूक्तं—"वत्सविवृद्धि निमित्तम्" इति ।

अर्थ—प्राणियों की कर्म विचित्रता ही सृष्टि रचने में कारण है, यदि ऐसा कहो तो बिचार पूर्वक करने वाला, यह उनका अधिष्ठाता न हुआ तो भी ठीक है, ऐसा कहने का प्रसंग आता है, क्योंकि (तदनधिष्ठानेति) वह कर्म का अधिष्ठाता यदि न माना जायगा तो भी उस जड़ कर्म की प्रवृत्ति के अनुसार उसको फल देनाही होगा और वह स्वतःही होजायगा, अस्तु,यदिउन जड़कर्मोंकी प्रवृत्ति न होवेगी तो उसमें लाभ ही है, क्योंकि—जब प्रवृत्ति ही न होवेगी तो शरीर, इंद्रियां व विषय ये उसके कार्य भी न होवेंगे, तथा शरीरादिकों के न रहने से दुःख भी नहीं होवेगा, अर्थात् जड़ कर्म की प्रवृत्ति न होने से दुःखा भाव रूप परम फल अपने आप सिद्ध हो जायगा । सारांश—इन उक्त पक्षों में सेएक भी पक्ष ग्राह्य नहीं है। (प्रकृते स्त्विति) और हमारे प्रकृति पक्ष

में देखा जाय तो वह प्रत्यक्ष अचेत न होने से उसकी प्रवृत्ति स्वार्थ से होती है, या कारुण्यता से होती है, ऐसा कोई भी नहीं कह सकता और इसी से उक्त दोष इस पक्ष में नहीं आते, उस प्रकृति की परार्थ के लिये प्रवृत्ति कैसे होती है, यह हमने वत्स्य के पुष्टयर्थ जड़ दूध की तरह होती है, इस दृष्टान्त द्वारा सिद्ध किया है।

स्वार्थ इवेति दृष्टान्ततं तद्विभजते—

अर्थ—प्रकृति स्वार्थवत् परार्थ में प्रवृत्त होती है, ऐसा ऊपर कहा गया है। उसी को उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हैं।

औत्सुक्य निवृत्यर्थं यथाक्रियासु प्रवर्त्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—सामान्य (लौकिक) मनुष्य अपनी वाञ्छा तृप्त करने के लिये जैसे कर्म में प्रवृत होता है, उसी तरह पुरुष के मोक्ष के लिये अव्यक्त (प्रकृति) प्रवृत्ति होती हैं।

औत्सुक्यम्=इच्छा, सा खल्विष्यमाणप्राप्तौ निवर्तते। इष्यमाणश्च स्वार्थः-इष्टलक्षणत्वात् फलस्य। दार्ष्टान्तिके योजयति-पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्" इति।

अर्थ—औत्सुक्य याने इच्छा, कोई भी इच्छा-इष्ट पदार्थके प्राप्त हो जाने के पश्चात् निवृत्त हो जाती है, यह प्रसिद्ध है, मनुष्य जिसकी इच्छा करता है वह स्वार्थ है, क्योंकि किसी भी फल का लक्षण 'इष्ट पदार्थ' यही रहता है, सामान्य मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये जैसे प्रवृत्त होता है, वैसे ही अव्यक्त भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होता है, यहां पर अव्यक्त के परार्थ प्रवृत्ति को लोगों के स्वार्थ प्रवृत्त का दृष्टान्त दिया है।

ननुभवतु प्रकृतेः पुरुषार्थः प्रवर्तको, निवृत्तिस्तु कुतस्त्या प्रकृतेर् ? इत्यत आह—

शंका—अच्छा पुरुषार्थ प्रकृति का प्रवर्तक है, यह हमको मान्य है, परन्तु उसकी निवृत्ति कैसे होवेगी ? समाधान—अच्छा सुनो।

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी तथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः ।।५९।।

अर्थ—जैसे नर्तकी स्त्री प्रेक्षकों के आगे अपना हाव भाव सहित नाच दिखलाकर निवृत्त हो जाती है, वैसे ही प्रकृति पुरुष के सन्मुख अपना स्वरूप प्रगट करके प्रकाशन क्रिया से निवृत्त हो जाती है।

"रङ्गस्य" इतिस्थानेन-स्थानिनः पारिषदानुपलक्षयति । 'आत्मानं' शब्दाद्यात्मना, पुरुषाद्भेदेन, च "प्रकाश्य" इत्यर्थः ।

अर्थ—कारिका में 'रंगस्य' ऐसा शब्द है, उसका वाच्यार्थ यहां पर 'रंगभूमि' ऐसा है, परन्तु भूमि जड़ होने से उसको नाच दिखाना बिलकुल ही असंभवनीय है, अतः रंग शब्द का लक्षणार्थ 'रंगभूमिस्थ' लोग ऐसा अर्थ करना, (आत्मानं) में उस शब्द, स्पर्शादि रूप से परिणमित होने के कारण पुरुष से भिन्न हूं, ऐसा पुरुष को जनाती है, तथा उसका यह कार्य होने के बाद वह स्वतः फिर से उस पुरुष के आगे नहीं जाती है।

स्यादेतत्-प्रवर्ततां प्रकृतिः पुरुषार्थं,पुरुषादुपकृतात् प्रकृतिर्लप्स्यते कञ्चिदुपकारम्-आज्ञासंपादनाराधितादिव ज्ञापयितुर्भुजिष्या, तथा च न परार्थाऽस्या आरम्भ इत्यतआह—

शंका—अच्छा-प्रकृति पुरुष के लिये प्रवृत्त होती है,यह आपका कथन हमको मान्य है, परन्तु जिस पर प्रकृति ने उपकार किया है, ऐसे पुरुष से कुछ भी तो बदले में फल अवश्य मिलना चाहिये, याने जैसे व्यवहार में-किसी मालिक की आज्ञा पालन करके कोई दासी सेवा करती है, तथा उस सेवा के बदले मालिक से (धनादि) फल मिलता है, वैसे ही प्रकृति को भी कुछ फल अवश्य मिलना चाहिये, नहीं तो उसकी प्रवृत्ति परार्थ है, यह कहना मिथ्या होगा। समाधान—

नानाविधैरुपायै रुपकारिण्यनुपकारिणःपुंसः ।
गुणवत्यगुणस्यसत स्तत्कार्यमपार्थकंचरति ।। ६० ।।

अर्थ—उपकार करने वाली तथा गुणवती ऐसी यह प्रकृति अनेक प्रकार

के उपायों से अनुपकारी (उपकार न करने वाला) व निर्गुण, ऐसे पुरुष के लिये व्यर्थ प्रवृत्त होती है ।

यथागुणवानप्युपकार्यपि भृत्यो निर्गुणोऽतएवानुपकारिणी स्वामिनि निष्फलाराधन—एवमियं प्रकृतिस्तपस्विनी "गुणवती" "उपकारिणी" अप्यनुपकारिणि निर्गुणेऽपि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति सिद्धम् ।

अर्थ—जैसे कोई गुणवान तथा उपकारी नौकर निर्गुण तथा अनुपकारी ऐसे मालिक की (हमको इससे कुछ भी लाभ नहीं होगा, ऐसा जान करके भी) एक निष्ठा से सेवा करता है, वैसे ही यह प्रकृति तपस्विनी गुणवती तथा परोपकारी होने से निर्गुण अनुपकारी ऐसे पुरुष को फलेच्छा न करके निरर्थक सेवा करती है, अर्थात् वस्तुतः यह पुरुष के लिये ही प्रयत्न करती है, अपने लिये नहीं, यह बात सिद्ध हो गई ।

स्यादेतत्—नर्तकी नृत्यं परिषद्भ्यो दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनस्तद्दृष्ट कौतूहलात्प्रवर्तते यथा—तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मानंदर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनः प्रवर्त्स्यतीत्यत आह—

अर्थ—नर्तकी स्त्री प्रेक्षकों को नृत्य दिखलाकर निवृत्त होती है, तथा फिर नाच देखने की उनको इच्छा हुई तो फिर उनको नृत्य दिखाती है, ऐसा आप देखते भी हैं, वैसे ही प्रकृति भी पुरुष को अपना स्वरूप दिखाकर एक वक्त यद्यपि निवृत्त हो गई, तथापि वह पुनः उसके लिये प्रवृत्त होवेगी, समाधान—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
याद्दष्टाऽस्मीति पुन र्दर्शनमुपैमि पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

अर्थ—प्रकृति से अधिक लज्जाकरने वाला दूसरा कोई (पदार्थ) नहीं है, ऐसा मुझे मालूम होता है, क्योंकि हमको पुरुष ने देख लिया, ऐसा समझ कर प्रकृति पुनरपि उसके सामने नहीं आती ।

सुकुमारता=अतिपेशलता—पर पुरुषदर्शनासहिष्णुतेतियावत् । असूर्यम्पश्याहि कुलवधूरतिमन्दाक्षमन्थरा प्रमादाद्विगलितसिचयाञ्चला चेदालोक्यते परपुरुषेण—तदासौ तथा प्रयततेऽप्रमत्तां यथैनां न पुनः पुरु-

षान्तराणि पश्यन्तीति-एवं प्रकृतिरपि कुलवधूतोऽप्यधिका दृष्टा विवेकेन न पुनर्दृश्यते इत्यर्थः।

अर्थ—सुकुमारता याने अत्यंत लजाने वाली, पर पुरुष का देखना (अपने को दूसरे से देखाना) सहन नहीं होता ऐसी, जिसका लोम सूर्य को भी दृगोचर नहीं होता, ऐसी कोई कुलीन स्त्री नैसर्गिक (अत्यन्त) लाज वाली तथा इसी से अधिकतर कभी घर से बाहर न निकलने वाली तथा अव्यस्थित रहने वाली नहीं होती, ऐसा होकर भी यदि कदाचित् प्रमाद वश उसके अंग के ऊपर का वस्त्र नीचे गिर गया हो और उस वक्त में कोई उसको देख लेवे तो उसको मरण प्राय दुःख होता है, तथा आगे के लिये (कुलवधू) वह इतनी सावधान हो करके रहती है कि उसको दूसरा कोई भी पर पुरुष देखने नहीं पाता, हमारी प्रकृति तो ऐसी स्त्रियों की अपेक्षा लाखबड़ अधिक लजाने वाली है, इसी से हमको विवेक ने देखा है, ऐसा मालूम होते ही पुनः उस (विवेक रूपी) पुरुष के सन्मुख नहीं जाती।

स्यादेतत् पुरुषश्चेद्गुणोऽपरिणामी कथमस्य मोक्षः ? मुचेर्बन्धन विश्लेषार्थ त्वात्, सवासन क्लेश कर्माशयानां च बन्धन संज्ञितानां पुरुषेऽपरिणामिन्य संभवात्। अतएवास्य न संसारः=प्रेत्यभावापरनामस्ति-निष्क्रियत्वात्। तस्मात् पुरुष विमोक्षार्थमिति रिक्तं वच इतीमामा शंका संहार व्याजेनाभ्युपगच्छन्नपाकरोति—

शंका—आपके कथनानुकूल यदि पुरुष निर्गुण व अपरिणामी होगा, तो उसका मोक्ष कैसे हो सकता है ? क्योंकि 'मोक्ष' इसमें मूल धातु 'मुच' है, जिसकाअर्थ-बंध तथा छूटना है,परन्तु जिसको बंध कहते हैं,उस वासना सहक्लेश तथा कर्म इनके आशय को अपरिणामी पुरुष के प्रति आश्रय मिलना अशक्य है, इसी से प्रेत्य भाव यह जिसका दूसरा नाम है, ऐसा संसार भी इसको नहीं करना पड़ता, क्योंकि प्रेत्यभाव याने परलोक को जाना, परन्तु आत्मा तो निष्क्रिय है, तब वह परलोक को कैसे जायेगा ? तस्मात् "पुरुष के मोक्षार्थ प्रकृति प्रयत्न" यह कथन निरा झूंठ है, समाधान-कारिका द्वारा—

तस्मान्न बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापिसंसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रयाप्रकृतिः ॥ ६२ ॥

अर्थ—तस्मात् यह पुरुष न तो बद्ध होता, न मुक्त होता, तथा न किसी तरह का संसार का काम करता है, यह तो अनेकों का आश्रय करने वाली प्रकृति हो संसार की रचना करती है, बद्ध होती है, तथा मुक्त भी होती है।

अद्धा "न" कश्चित्पुरुषो "बध्यते" 'न' कश्चित् "संसरति" 'न' कश्चित् "मुच्यते" इति—"प्रकृतिर्" एव "नानाश्रया" सती—"बध्यते' च, "संसरति" च, मुच्यते" च। बंधमोक्षसंसाराः पुरुष उपचर्यन्ते। यथा जयपराजयौ भृत्य गतावपि स्वामिन्युपचर्य्येते—तदाश्रयेण भृत्यानां तद्भागित्वात्, तत्फलस्य च शोकलाभादेः स्वामि संबन्धात्। भोगापवर्गयोश्च प्रकृति गतयोरपि विवेकाग्रहात्पुरुषसंबन्धउपपादित इति सर्वं पुष्कलम्।

अर्थ—कोई पुरुष बद्ध नहीं होता, न कोई संसार का काम करता, यह सत्य है तो फिर यह सब करता है कौन? उत्तर—सुनो—अनेक पदार्थों का आश्रय करके प्रकृति ही बद्ध होती है, संसार की रचना करती है, तथा मुक्त भी होती है, बन्ध, मोक्ष, संसार, यह पुरुष के प्रति उपचार (प्रधान) से कहते हैं, जैसे व्यवहार में सेवकों का किया जय या पराजय का आरोप स्वामी पर करते हैं क्योंकि सेवक स्वामी के आश्रय से होने के कारण स्वामी शोक लोभादि फलों का भागीदार होता है, इसी दृष्टान्त के सदृश भोग तथा मोक्ष तत्वतः यद्यपि प्रकृति के विषय है, तथापि प्रकृति तथा पुरुष इनके विवेक का ग्रहण न होने से वे (भोग व मोक्ष) पुरुष में होते हैं, ऐसा उपचार मात्र से कहते हैं।

सारांश—ऐसा होना प्रमाण शून्य है, ऐसा कोई भी नहीं कह सकता।

नन्ववगतं प्रकृतिगता बन्धसंसारापवर्गाः पुरुष उपचर्यन्त इति किं साधनाः पुनरेते प्रकृतेः? इत्यत आह—

अर्थ—प्रकृति ही में बंध मोक्ष तथा संसार होता है और उनका अविवेक से पुरुष के प्रति उपचार किया जाता है, यह जो आपका कहना है वह माना, परन्तु प्रकृति को ये (बंध मोक्ष) कैसे होते हैं ? अर्थात् उनके साधन कौन से हैं ?

रूपैः सप्तभिरेवतु बध्नात्यात्मान मात्मना प्रकृतिः ।

सैवचपुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेण ॥ ६३ ॥

अर्थ—प्रकृति-धर्मादि सप्तभावों के योग से ही पुरुष के भोग उद्देश करके अपने हाथ ही से अपने को बांध डालती है, तथा वही पुनः तत्व ज्ञान के योग से अपने को (बन्धों से) मुक्त कर लेती है ।

तत्व ज्ञानवर्जं "बध्नाति" धर्म्मादिभिः "सप्तभिः" रूपैर् -भावैरिति "पुरुषार्थं प्रति"=भोगापवर्गं प्रति "आत्मनात्मानं" "एकरूपेण"=तत्व ज्ञानेन=विवेकख्यात्या "विमोचयति"=पुनर्भोगापवर्गौ न करोतीत्यर्थः ।

अर्थ—तत्व ज्ञान को छोड़ कर शेष जो धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य ऐश्वर्य, अनैश्वर्य तथा अज्ञान ये सातों भावों के योग से प्रकृति, पुरुष के भोग के लिये अपने ही आपको बांध लेती है, तथा एक रूपेण याने तत्व ज्ञान=विवेक ख्याति से आपही आपको मुक्त कर लेती है, अर्थात् तत्व ज्ञान होने पर पुरुष के लिये भोग या मोक्ष के वास्ते प्रयत्न नहीं करती ।

अवगतमीदृश तत्वं, ततः किम् ? इत्यत आह—

अर्थ—इस तरह के तत्वों के जानने पर लाभ क्या ? वही कहते हैं

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि नमे नाहमित्य परिशेषम् ।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवल मत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—ऐसे तत्वों का अभ्यास करने से मैं क्रिया रहित हूं, मैं कर्ता नहीं हूं, तथा मेरा कोई नहीं है, ऐसा निःशेष, विपर्यय रहित, अति पवित्र तथा केवल ज्ञान उत्पन्न होता है ।

तत्वेन विषयेण विषयि=ज्ञानमुप लक्षयति । उक्तप्रकारतत्व विषय ज्ञानभ्यासादादरनैरन्तर्य दीर्घ काल सेवितात्सत्व पुरुषान्यता साक्षात्कार ज्ञानमुत्पद्यते=यद्विषयश्चाभ्यासस्तद्विषयकमेवसाक्षात्कारमुपजनयति, तत्व-

विषयश्चाभ्यास इति तत्व साक्षात्कारं जनयति। अतउक्तं–"विशुद्धम् इति। कुतोविशुद्धम्?

अर्थ—तत्व यह ज्ञान का विषय है, परन्तु उस तत्व से उसका विषयी जो ज्ञान उस (ज्ञान) का भी 'तत्वाभ्यासात्' यहां के तत्व शब्द से बोध होता है, (उक्तमिति) याने उपरोक्तानुसार तत्व व तद्विषयक ज्ञान के अभ्यास से निरन्तर दीर्घ काल तक, अव्याहत गती से बड़े आदर पूर्वक अभ्यास करने पर प्रकृति व पुरुष भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, इसी ज्ञान को "सत्व पुरुषान्यता साक्षात्कारि" ज्ञान कहते हैं। (यद्विषयेति) जिस विषय का अभ्यास करो उसी का विषयी को साक्षात्कार होता है, ऐसा सिद्धान्त है। अपना तत्व विषयक अभ्यास होने से तत्व साक्षात्कार हो जाता है, यह युक्त ही है (अत उक्तमिति) और ऐसा होने के कारण ही कारिका में ज्ञान को 'विशुद्धम्' यह विशेषण दिया है, यह ज्ञान विशुद्ध कैसे है?—

इत्यत आह–"अविपर्ययाद्" इति। संशय विपर्ययौ हि ज्ञानस्या विशुद्धि, तद्रहितं "विशुद्धम्" तदिदमुक्तम्–"अविपर्ययादिति"। नियत मनियततया गृह्णन्संशयोऽपि विपर्ययः, तेन "अविपर्ययाद्" इति संशय विपर्ययाभावो दर्शितः। तत्वविषयत्वाच्च संशय विपर्ययाभावः।

अर्थ—कहते हैं कि संशय तथा विपर्यय ये दोनों ज्ञान के मल हैं, इन दोनों (संशय विपर्यय) के रहित जो ज्ञान हो वही (ज्ञान) विशुद्ध ज्ञान है, यही अर्थ "अविपर्ययाद्" इस पद से सिद्ध होता है, परन्तु यदि कोई कहे कि यहां 'विपर्ययाद्' इस शब्द से केवल विपर्यय का ही उल्लेख किया है, न कि संशयका तो उसको सिद्ध करते हैं। (नियतमिति) जो वस्तु स्वाभाविक रूप से एक रूप बनी रहती है, अर्थात् जिसका स्वरूप निश्चित रहता है, उसके विषय में "यह ऐसी है या नहीं" ऐसा ज्ञान पड़ना यही संशय कहाता है, संशय यह भी तो एक विपर्यय ही है, क्योंकि वस्तु का भिन्न स्वरूप भासित होना यही विपर्यय का लक्षण है, तथा यही लक्षण संशय में भी घटित होता है, इससे 'विपर्ययाद्' इस पद के कथन मात्र से संशय का भी ग्रहण हो

जाता है, संशय व विपर्यय का तत्व ज्ञानमें लेशमात्र भी भेद नहीं है, यह ऊपर कहा जा चुका है। सारांश—साक्षात्कार का विषय-तत्व ज्ञान-होनेसे उसमें संशयादि मल ठहर ही नहीं सकते।

स्यादेतद्-उत्पद्यतामीदशाभ्यासात्तत्वज्ञानम् । तथाप्यनादिना मिथ्या ज्ञान संस्कारेण मिथ्या ज्ञानं जनयितव्यम्। तथा च तन्निमित्तस्य संसारस्यानुच्छेद प्रसङ्ग इत्यत उक्तं "केवलं"=विपर्ययेणासंभिन्नम्। यद्यप्यनादिर्विपर्ययवासना । तथापि तत्वज्ञान वासनया तत्व विषय साक्षात्कारमादधत्याऽऽदि मत्यापि शक्या समुच्छेत्तुम्। तत्वपक्षपातोहि धियां स्वभावः। यथाहु: बाह्या अपि—

अर्थ—अब इस पर यदि कोई यह कहे कि इस तरह के (उक्त) अभ्यास से यद्यपि यह तत्व ज्ञान सिद्ध हो जायगा, तो भी इसको जो अनादि मिथ्या ज्ञान का संस्कार होने के योग से मिथ्या ज्ञान होगा तथा उसी मिथ्या ज्ञान से होने वाला संसार कभी भी नष्ट न होगा, ऐसा कहने का समय प्राप्त होता है, परन्तु इसका उत्तर 'केवलं' इस विशेषण से दिया है, केवल याने विपर्यय से रहित (अमिश्रित) यद्यपि मिथ्या ज्ञान की वासनायें संस्कार अनादि है यह सत्य है, तथापि (जिस) तत्व ज्ञान के वासनाओं के योग से तत्व विषय का साक्षात्कार होता है, उन (वासनाओं) के द्वारा इन (वासनाओं) का अच्छेद होना शक्य ही नहीं बल्कि साध्य भी है, क्योंकि तत्व का पक्षपात करना यह बुद्धि का नैसर्गिक धर्म है, इस विषय में केवल वाह्य तत्वों के देखने वाले (अनात्मज्ञ) पुरुषों ने भी ऐसा कहा है।

निरुपद्रव भूतार्थं स्वभावस्य विपर्ययैः । वाधोयत्नवत्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपातत:" इति।

अर्थ—संशयादि दोषों से युक्त मिथ्या ज्ञान के योग से अनेक भ्रम डालने पर भी दोषादि रहित सत्य वस्तु का बोध नहीं होता, क्योंकि बुद्धि उस सत्यार्थ ही का पक्ष लेती है, अर्थात् बुद्धि सत्य पक्षपातिनी होने से उसी का पक्ष लिया करती है।

ज्ञानस्वरूपमुक्त-"नास्मि न मे नाहमिति" इति । "नास्मि" इति।

अनेनात्मनि क्रिया मात्रं निषेधति यथाहुः– 'कृभ्वस्तयः क्रिया सामान्य वचना'' इति। तथा चाध्यवसायाभिमान संकल्पा लोचनानि चान्तराणि, वाह्याश्चसर्वो व्यापाराः, आत्मनि प्रतिषिद्धानि वोद्धव्यानि।

अर्थ—दीर्घकाल, निरन्तर व आदर पूर्वक किये गये अभ्यास के योग से प्राप्त होने वाले ज्ञान के स्वरूप को "नास्मि" "नमे" "नाहं" इन शब्दों से बतलाया है, "नास्मि" इस शब्द से आत्मा में होने वाली हरएक क्रियाओं का निषेध किया है, क्योंकि 'अस्मि' इसमें का मूल जो 'अस' धातु वह क्रिया वाचक है, इसमें प्रमाण–कृ, भू, तथा अस् ये तीनों धातु सामान्यतः क्रिया दिखलाते हैं।

सारांश—अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प, आलोचन और दूसरे भी सब वाह्य तथा आन्तरिक व्यापार आत्मा में नहीं होते, ऐसा जानना चाहिये।

यतश्चात्मनि व्यापारावेशो नास्त्यतो "नाहम्"। अहमिति कर्तृ-परम्। 'अहं–जानामि' 'अहं–जुहोमि' अहंददे' अहंभुञ्जे' इति सर्वत्र कर्त्तुः परामर्शात् निष्क्रियत्वे च सर्व कर्तृत्वाभावः। ततः सुष्ठूक्तं-'नाहम्' इति। अतएव न मे''। कर्त्ता हि स्वामितां लभते, तदभावात्तु कुतः स्वा-भाविकी स्वामिता ? इत्यर्थः। अथवा—

अर्थ—यस्मात् आत्मा में किसी भी प्रकार का व्यापार नहीं है, तस्मात् 'मैं नहीं हूं' अहं याने मैं यह कर्तृपद है, क्योंकि मैं जानता हूं, मैं होम करता हूं, मैं देता हूं, मैं खाता हूं इत्यादि 'मैं' इस पद से कर्ता का बोध होता है, परन्तु आत्मा क्रिया शून्य है, यह जान लेने पर सब तरह के कर्तृत्व का अभाव हो जाता है, इसी से 'नाहं' 'मैं नहीं' ऐसा जो कहा है वह योग्य ही है, जब मैं कर्ता नहीं हूं तो मेरा कुछ भी नहीं है, क्योंकि कर्ता यही स्वामी होता है, परन्तु मूल में आत्मा कर्त्ता ही नहीं तो स्वामी होवेगा कहां से ?

सारांश—जैसे वह स्वाभाविक कर्ता नहीं वैसे ही (स्वाभाविक) किसी का स्वामी भी नहीं है।

अथवा "नास्मि" इति=पुरुषोस्मि=नप्रसवधर्मा। अप्रसव धर्म

त्वाच्चाकर्तृत्व माह–'नाहम्' इति। अकर्तृत्वाच्च न स्वामितेत्याह–'न मे' इति। नन्वेतावत्सु ज्ञातेष्वपि कश्चित्कदाचिद् ज्ञातोविषयोऽस्ति, तज्ज्ञानं च जन्तून्बन्धयिष्यतीत्यत आह–"अपरिशेषम्" इति। नास्ति किञ्चि दस्मिन् परिशिष्टं ज्ञातव्यं–यदज्ञानं बन्धयिष्यतीत्यर्थः।

अर्थ—अथवा "नाहं" मैं नहीं' इसका अर्थ ऐसा करना कि मैं पुरुष हूं, तथापि प्रसव होना, परिणाम पाना, यह जिसका धर्म है, वह मैं नहीं हूं, प्रसव धर्मी न होने से 'मैं नहीं हूं' इससे ही आत्मा का अकर्तृत्व दिखलाया है, तथा अकर्ता होने से स्वामी भी नहीं है ऐसा, 'मेरा कुछ नहीं' इस वाक्य से दर्शित कराया है, अब यदि कोई यह कहे कि (एतावत्सु) इस तरह का यह सब जान करके यदि कोई भी पदार्थ अनजान रह गया हो तो वह उतना ही अज्ञान उस प्राणी को बद्ध कर डालेगा, परन्तु यह प्रश्न उठने ही न पावे, अतः 'अपरिशेषम्' ऐसा कारिका में कहा है कि हमने जो यहां तक कहा है, इसका ज्ञान होने पर ज्ञात वस्तु कुछ भी (शेष) नहीं रह जाती, इसी कारण से उस अज्ञान से बंध भी नहीं होता।

किं पुनरीदृशेन तत्व साक्षात्कारेण सिद्ध्यति ? इत्यत आह—

अर्थ—इस तरह का तत्व साक्षात्कार होने से कौनसा लाभ है ? वही कहते हैं—

तेननिवृत्त प्रसवामर्थवशात्सप्तरूप विनिवृत्तां।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः॥६५॥

अर्थ—उस तत्व साक्षात्कार के योग से प्रेक्षकवत् हुआ सुस्थ (स्वस्थ) पुरुष–प्रसव धर्म से निवृत्त हुई तथा विवेक ज्ञान रूप अर्थ सामर्थ्य से जिसके धर्माधर्मादि सात प्रकार के रूप निवृत्त हो गये हैं, ऐसी प्रकृति को देखता है।

भोग विवेक साक्षात्कारौ हि प्रकृतेः प्रसोतव्यौ, तौच प्रसूता विति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्त प्रसवा प्रकृतिः। विवेक ज्ञान रूपो योऽर्थस्तस्य वशः=सामर्थ्यं तस्मात्। अतत्वज्ञान पूर्वकाणिखलु धर्माधर्माज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि। वैराग्यमपि केवल तौष्टिकानामतत्वज्ञानपूर्वकमेव।

अर्थ—भोग व विवेक साक्षात्कार, ये दो अर्थ प्रकृति को निर्माण करने के लिए रहते हैं, परन्तु वे उत्पन्न होजाने से ज्ञानानन्तर उसको उत्पन्न करने के लिए कुछ रहता ही नहीं, अतः उसको यहां प्रसव से निवृत्त होगई' ऐसा कहा है, (विवेक ज्ञानेति) विवेक ज्ञान यही अर्थ (शक्ति) उसके सामर्थ्य जिसके धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य. ऐश्वर्य, अनैश्वर्य ये सात रूप निवृत्त होते हैं, उसको (सप्तरूप विनिवृत्ता) कहते हैं, आत्मअनात्म का विवेक न हुआ तो भी केवल प्रकृति, महत्तत्व इत्यादिकों के साक्षात्कार ही से अपने को कृतकृत्य मानने वाले कितने विरक्त होते हैं, परन्तु उनकी वह विरक्ति अतत्व ज्ञान पूर्वक ही रहती है, अतः तत्व ज्ञान के बिना प्राप्त हुई विरक्ति भी तत्व ज्ञान से निवृत्त हो जाती है।

तत्र तत्व ज्ञानं विरोधित्वेनातत्वज्ञानमुच्छिनत्ति । कारणविनिवृत्या च सप्त रूपाणि निवर्तन्ते इति सप्तरूप विनिवृत्ता प्रकृतिः ।'अवस्थित' इति । निष्क्रियः । "सुस्थ" इति रजस्तमो वृत्ति कलुषया बुद्ध्याऽसंभिन्नः । सात्विकयातु बुद्ध्या तदाप्यस्य मनाक् संभेदोऽस्त्येव । अन्यथैवम्भूत प्रकृति दर्शनानुपपत्तेरिति ।

अर्थ—क्योंकि तत्वज्ञान व अतत्व ज्ञान इनका विरोध होने से तत्व ज्ञान उत्पन्न होते ही वह अतत्व ज्ञान को नष्ट सा कर डालता है, तथा कारण की निवृत्ति होते ही कार्य (सप्त) रूपों की भी निवृत्ति हो जाती है, तात्पर्य—ऐसी प्रकृति को वह देखता है, "अवस्थितः" याने निष्क्रिय-क्रिया रहित तथा "सुस्थ" याने राजस व तामस वृत्तियों से कलुषित हुई बुद्धि से युक्त न रहने वाला अर्थात् ऐसे बुद्धि से सम्बन्ध न रखने वाला (सात्विकयेति) विवेक समय में भी सात्विक बुद्धि से उसका थोड़ा सा तो भी सम्बन्ध रहता है, क्योंकि उसके बिना पूर्वोक्त प्रकृति का दर्शन पुरुष को लेते नहीं आवेगा।

स्यादेतत्–'निवृत्तप्रसवाम्' इति न मृष्यामहे, संयोग कृतोहि स इत्युक्तं, योग्यता च=संयोगः, भोक्तृत्व योग्यता च=पुरुषस्य चैतन्यं,भोग्यत्व योग्यता च=प्रकृतेर्जड़त्वं विषयत्वं च, न चैतयोरस्ति निवृत्तिः, न च करणीया भावान्निवृत्तिः, तज्जातीयस्यान्यस्य करणीयत्वात्–पुनः पुनः शब्दाद्युपभोगवदित्यत आह ।

शंका—प्रकृति को जो आपने निवृत्त प्रसवा कहा सो हमको मान्य नहीं है, क्योंकि भोग्य तथा विवेक साक्षात्कार रूपा (तत्व ज्ञान) प्रसव संयोग से होता है, ऐसा आपने ही ऊपर कहा है, परन्तु संयोग याने योग्यता पुरुषों का चैतन्य यह भोक्तृत्व योग्यता है,व प्रकृति का जड़त्व व विषयत्व यह भोग्यत्व योग्यता है (नेति) परन्तु इन दोनों प्रकार के योग्यताओं की निवृत्ति कभी नहीं हुआ करती, यदि कुछ कर्तव्यहीन रहने से उन दोनों प्रकार के योग्यताओं की निवृत्ति होती है, ऐसा कहें तो सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि एक शब्द का यद्यपि अनुभव ले लिया तो भी उसी जाति के अनेक शब्दों का जैसे पुनः पुनः अनुभव लेते हैं, वैसे ही एक कर्तव्य यद्यपि कर डाला गया, तो भी उसी के सदृश और दूसरे अनेक कर्तव्य होने से उनकी निवृत्त होना अशक्य है।

समाधान—

दृष्टामयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सतिसंयोगेऽपितयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥६६॥

अर्थ—मैंने उसको देखा-ऐसा कहकर पुरुष उपेक्षा करता है, तथा हम को इसने देखा ऐसा समझकर प्रकृति अपने व्यापार से पराङ्मुख हो जाती है और इसी से यद्यपि उनका संयोग रहा तो भी सर्ग का प्रयोजन नहीं रहता।

करोतु नामपौनः पुन्येन शब्दाद्युपभोगं प्रकृतिर्यया विवेक ख्यातिर्न कृता, कृत विवेक ख्यातिस्तु शब्दाद्युपभोगं न जनयति। अविवेक ख्याति निबन्धनो हि तदुपभोगो, निबंधनाभावेनतद्भवितुमर्हत्यंकुर इव बीजा भावे।

अर्थ—जिस प्रकृति ने विवेक साक्षात्कार नहीं किया, वह भले ही शब्दादि विषयों का उपयोग बार २ लिया करे, परन्तु जिसने विवेक ख्याति करली है, वह (प्रकृति) शब्दादिकों का उपभोग कभी भी नहीं होने देती, (अविवेकेति) क्योंकि विवेक साक्षात्कार न होने से ही शब्दादि विषयों का उपभोग हुआ करता है, याने वहीं उपभोग का हेतु है, जैसे बीज के अभाव

होने से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही बीज रूप अविवेक न रहने से भोग रूप कार्य भी नहीं होता।

प्राकृतान् हि सुख दुःखमोहात्मनः शब्दादींस्तद विवेकान् 'ममैतत्' इत्यभि मन्यमान आत्मा भुञ्जीत, एवं विवेक ख्यातिमपि प्राकृतीमविवेकादेवात्मा 'मदर्थेयम्' इतिमन्यते। उत्पन्न विवेक ख्यातिस्तु तदसंसर्गान्न शब्दादीन् भोक्तुमर्हति, नापि विवेक ख्यातिं प्राकृतीम्। ततोविविक्त आत्मा स्वार्थमभिमन्तुमर्हतीति। पुरुषार्थौ च भोग विवेकौ प्रकृत्यारम्भ प्रयोजकावित्य पुरुषार्थौ सन्तौ न प्रकृतिं प्रयोजयतः। तदिदमुक्तं="प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य" इति। अत्र प्रयुज्यते सर्गे प्रकृतिरनेनेतिप्रयोजनं, तद् अपुरुषार्थत्वे नास्तीत्यर्थः॥

अर्थ—प्रकृति से विकार पाये हुये तथा सुख दुःख मोह रूप ऐसे जो शब्दादि विषय हैं वे मेरे हैं, ऐसा समझकर प्रकृति पुरुष का विवेक न होने से पुरुष (आत्मा) उनका उपभोग करता है, वैसे ही जिसको विवेक ख्याति नहीं हुई, ऐसा पुरुष प्रकृति की यह विवेक ख्याति भी मेरे ही लिये है, ऐसा अज्ञानता से मानता है, (उत्पन्न विवेक ख्यातिस्त्विति) परन्तु जिसकी ख्याति हो गई है, उसका शब्दादि विषयों से संसर्ग हीन होने के कारण वह उसका भोग भी नहीं कर सकता, वैसे ही प्रकृति से बिलकुल भिन्न पुरुष प्रकृति की विवेक ख्याति मेरे लिये है, ऐसा कभी अभिमानभी नहीं करता, (पुरुषार्थाविति) वैसेही भोग तथा विवेक ये पुरुषार्थहो प्रकृति की प्रवृत्तिमें कारण होने से तथा विवेक ज्ञान के बाद वे पुरुष के लिये नहीं हैं, ऐसा निश्चय पूर्वक सिद्ध होने से वे (पुरुषार्थौ) पुनः प्रकृति को प्रवृत्ति में योजित नहीं करते, अर्थात् विवेक ज्ञान होनेके बाद सर्ग का कुछ प्रयोजन ही नहीं रहता, (अत्रेति) प्रकृति से जो सर्ग कराने लगते हैं वे प्रयोजन हैं, परन्तु भोग व अपवर्ग ये दोनों पुरुष के लिये नहीं हैं, ऐसा सिद्ध होने पर वे रहते ही नहीं।

स्यादेतद्—उत्पन्नतत्व साक्षात्कारान्मुक्तश्चेदनन्तरमेव तस्य शरीरपातः स्यादिति कथमदेहः प्रकृतिं पश्येद् ? अथ तत्व ज्ञानेऽपि न मुच्यते-कर्मणाम् प्रक्षीणत्वात् तेषां कुतः प्रक्षयः ? भोगादिति चेद्—हन्तभोः।

तत्व ज्ञानं न मोक्ष साधनमिति 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान जन्मना तत्वज्ञाने नापवर्ग' इतिरिक्तं वचः, भोगेन चापरिसंख्येयः कर्माशय प्रचयोऽनियत विपाक समयः क्षेतव्यः, ततश्चाप वर्ग प्राप्तिरित्यपि मनोरथ मात्र मित्यत आह—

अर्थ—शंका-आत्मा को तत्व साक्षात्कार होने पर उसके योग से (पुरुष) मुक्त हो जाता है, यदि यह कथन आपका सत्य होगा, तो तत्व साक्षात्कार के पश्चात् मुक्त हो गये हुये जीव का शरीर तत्काल छूट जाना चाहिये, यह आपके कहने से ही सिद्ध होता है, बाद शरीर रहित वह पुरुष प्रकृति को कैसे देखेगा ? क्योंकि तत्व ज्ञान के बाद वह प्रकृति को देखता है, ऐसा आपका ही कथन है, (अथेति)—अच्छा-तत्व ज्ञान यद्यपि हो गया तो भी कर्म क्षीणता को न प्राप्त होने से वह मुक्त नहीं होता, ऐसा कहने से प्रश्न उपस्थित होता है कि उन कर्मों का क्षय कैसे होगा ? भोग के द्वारा होगा, यदि ऐसा कहोगे तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि तत्व ज्ञान से मोक्ष होता है,यह आपका कथन व्यर्थ होजायगा,अर्थात् तत्व ज्ञान मोक्षका साधन न होनेसे व्यक्त, अव्यक्त वज्ञ, इनके विज्ञान से उत्पन्न होने वाले तत्व ज्ञान के योग से मोक्ष होता है, यह कथन व्यर्थ है, अनेक जन्मों में अनेक किये गये कर्म से जिनकी गणना करते नहीं आती, तथा जिनके परिपाक होने का समय निश्चित नहीं, ऐसे कर्मों के आशय (कोष) का क्षय भोग से होता है, तत्पश्चात् मोक्ष होता है, यह कहना केवल मनोरथ मात्र ही है।

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकारण प्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कार वशाच्चक्र भ्रमिवद्धृत शरीरः॥ ६७॥

अर्थ—तत्व ज्ञान प्राप्त होने पर, तथा धर्मादि कारणों की प्राप्ति न होने पर चक्र के भ्रमण सदृश, पुरुष संस्कारों के योग से शरीर धारण करके रहता है।

तत्व साक्षात्कारोदयादेवानादिरप्यनियत विपाक कालोऽपि कर्माशय प्रचयोदग्धबीजभावतया न जात्याद्युपभोग लक्षणाय फलाय कल्पते। क्लेश सलिला व सिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्म बीजान्यङ्कुरं प्रसुवते। तत्व

ज्ञान निदाघ निपीत सकल क्लेश सलिलायामूषरायां कुतः कर्म बीजानामङ्कुर प्रसवः ? तदिदमुक्तं–"धर्मादीनामकारणप्राप्तौ"=अकारणत्व प्राप्ता वित्यर्थः ।

अर्थ—तत्व का साक्षात्कार होने पर तत्काल अनादि व जिसके परिपाक के काल का नियम नहीं, ऐसा कर्माशय समूह भूजे हुये बीज के सदृश अयोग्य (अपात्र) हो जाता है, याने जिसमें बीजत्व का धर्म नहीं रहता, इसीसे वह उत्पत्ति, उपभोग इत्यादि फल देने में समर्थ नहीं रहता, (क्लेशित) क्लेश रूपी जल वर्षा से आर्द्र भाव को प्राप्त हुये, बुद्धि भूमि में कर्म रूपी बीज पैदा होते हैं, परन्तु तत्व रूपी प्रखर (कड़क) धूप से जिस भूमि का सम्पूर्ण क्लेश रूपी जल सुखा डाला गया है, ऐसे बुद्धि भूमि में कर्म बीज कैसे उत्पन्न होवेंगे ? यह सूचित कराने के लिये ही "धर्मादी नाम कारण प्राप्तौ" ऐसा कहा है, तत्व ज्ञान के योग से धर्माधर्मादि सब जन्मादिकों के कारण-अकारण भाव को प्राप्त हो जाते हैं, याने वे जन्मादिकों के कारण नहीं होते ।

उत्पन्ने तत्व ज्ञानेऽपि च "संस्कार वशात्तिष्ठति" यथोपरतेऽपि कुलाल व्यापारे चक्रं वेगाख्य संस्कार वशाद्भ्रमत्तिष्ठति काल परिपाक वशात्तूपरते संस्कारे निष्क्रियं भवति ।शरीरस्थितौ च प्रारब्ध कर्म परिपाकौ धर्माधर्म संस्कारौ भोगेन क्षेतव्यौ । तथाचानुश्रूयते–"भोगेनत्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते" इति, तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ च संपत्स्ये" इति च । प्रक्षीयमाणा विद्या विशेषश्च संस्कारस्तद्वशात्तत्सामर्थ्याद्धृतशरीरस्तिष्ठति ॥

अर्थ—अब ज्ञान के बाद शरीर कैसे रहता है सो कहते हैं । (उत्पन्ने) तत्व ज्ञान यद्यपि उत्पन्न हो गया तो भी संस्कार वश कर्म विपाक रहता है, जैसे–जब कुम्हार को घटादि पदार्थ बनाना होता है, तब वह अपना चक्र घुमाना आरम्भ करता है, तथा कुम्हार ने जिस वस्तु के तैयार करने के लिये चक्र घुमाया था, उस वस्तु के तैयार होने पर भी चक्र घूमा करता है, व जब तक कुम्हार का दिया हुआ वेग का संस्कार उसमें रहता है, तब तक वह चक्र

फिरता ही रहता है, तथा काल के परिपाक से जब वेग नष्ट (लीन) हो जाता है, तब वह बंद (वेग रहित) हो जाता है, इसी दृष्टान्तानुसार शरीर भी तत्व ज्ञान के पश्चात् प्रारब्ध कर्मों के रूप से जिनका परिपाक हुआ है, ऐसे धर्माधर्मों के संस्कार कर्मों का क्षय होने तक ही रहते हैं, इस विषय में "भोगेन" इत्यादि वेदान्त सूत्र तथा आगमादि प्रमाण हैं, (सूत्रार्थ) जिनको तत्व ज्ञान हो गया है, ऐसे ज्ञानी भोग भोग कर प्रारब्ध कर्मों का क्षय करने के अनंतर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। (२) जिनको तत्व विवेक हुआ है, ऐसे पुरुषों को प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने तक ही जो विलम्ब सो हो उनका क्षय होते ही मुक्त होजाते हैं, क्षीण होने वाली एक प्रक प्रकारकी अविद्या को संस्कार कहते हैं, तथा उसी के सामर्थ्य ही से पुरुष शरीर धारण करके रहता है।

स्यादेतद्-यदि संस्कार विशेषाद्धृत शरीरः, तथापि कदास्य मोक्षो भविष्यति ? इत्यत आह—

शंका—एक प्रकार के संस्कार से पुरुष यद्यपि शरीर धारण करके रहता है, परन्तु उसका मोक्ष कब होगा ? इसीका समाधान करते हैं—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधान विनिवृत्तेः।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्य माप्नोति ॥ ६८ ॥

अर्थ—शरीर के नाश होने पर प्रधान कृत कृत्य होजाता है, तथा उसी से वह पुरुष से निवृत्त होता है और इतना होने पर अवश्यंभावी तथा अविनाशी ऐसे दोनों प्रकार का कैवल्य पुरुष को प्राप्त होता है।

अनारब्धविपाकानां तावत्कर्माशयानां तत्व ज्ञानाग्निना बीज भावो दग्धः, प्रारब्ध विपाकानांतूपभोगेन क्षयेसति "प्राप्ते" शरीरस्य "भेदे"=विनाशे "चरितार्थ त्वात्"=कृतप्रयोजनत्वात्प्रधानस्य तं पुरुषं प्रति निवृत्तौ "ऐकान्तिकम्" अविनाशीति-"उभयं कैवल्यं" दुःखत्रय विगमं प्राप्नोति पुरुषः।

अर्थ—जिन कर्मों की फलोन्मुखता प्राप्त नहीं होती, उनके आशयों का बीज भाव तत्व ज्ञान रूप अग्नि से भस्म हो जाता है, आशय याने सूक्ष्म रूप, (प्रारब्धेति) परन्तु जिनके विपाक का आरम्भ होगया, अर्थात् जिनकी

फलोन्मुखता होगई है, ऐसे कर्मों का क्षय भोगने से ही होता है, इस तरह दोनों कर्मों का क्षय होने पर (ज्ञानी के) शरीर का पात होजाता है, भोग तथा अपवर्ग ये दोनों पुरुषार्थ कर चुकने पर प्रधान कृत कृत्य होकर पुरुष के सामने खड़ा भी नहीं रहता और ऐसा हो जाने पर अवश्य होने वाला व नित्य ये दोनों कैवल्य (आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों का नाश होना यही कैवल्य है) पुरुष को प्राप्त होते हैं।

प्रमाणेनोपपादितेऽप्यत्यन्तश्रद्धोत्पादनाय परमर्षिपूर्वकत्वमाह—

अर्थ—यहां तक सांख्य शास्त्र के तत्वों का सप्रमाण प्रतिपादन किया परन्तु अब इस शरीर पर जिज्ञासुओं की दृढ़ श्रद्धा हो, इसलिये यह शास्त्र परम ऋषी का बनाया हुआ है, ऐसा कहते हैं।

पुरुषार्थ ज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातं।
"स्थित्युत्पत्ति प्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्॥ ६९॥

अर्थ—जिसके लिये भूतों की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय इनका चिन्तमन किया जाता है, वह गुह्य पुरुषार्थ ज्ञान परम ऋषी ने बतलाया (कहा) है।

"गुह्यं"–गुहानिवासि, स्थूलधियां दुर्बोधमितियावत्। "परमर्षिणा"=कपिलेन। तामेव श्रद्धामागमिकत्वेनद्रढ़यति–"स्थित्युत्पत्ति प्रलयश्चिन्त्यन्ते यत्रभूतानां" 'यत्र"=ज्ञाने=यदर्थंयथा–"चर्मणि द्वीपिनं हन्ति" इति। "भूतानां"=प्राणिनां "स्थित्युत्पत्ति प्रलयाः" आगमैः "चिन्त्यन्ते"।

अर्थ—गुह्य याने गूढ़–गुहा में रहने वाला, स्थूल बुद्धि मनुष्यों को अत्यन्त कष्ट से भी नहीं ज्ञात होने वाला, परम ऋषी कपिल मुनि प्रणीत यह शास्त्रीय ज्ञान है, यह पाठकों को समझ पड़े व उसके योग से इस शास्त्र पर दृढ़ श्रद्धा बैठे, अतः किस ज्ञान से भूतों की उत्पत्ति कैसे होती है, उनकी स्थिती कैसे होती है, व नाश कैसा होता है, इसका विचार किया जाता है, वह यह ज्ञान है, इस कारिका में जो यत्र पद है, उसका 'ज्ञाने' ऐसा अर्थ करना व यह निमित्ते सप्तमी है, याने ज्ञानके निमित्त के लिए ऐसा उस शब्द का अर्थ

होगा, ऐसे सप्तमी का व्याकरण में 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इत्यादि उदाहरण देते हैं, प्राणियों के उत्पत्ति आदिकों का विचार करने वाला है, यह शास्त्र वेद को छोड़ कर नहीं हैं अर्थात् इस वैदिक शास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिये।

स्यादेतद्—यत्परमर्षिणा साक्षात्कथितं तच्छ्रद्दधीमहि, यत्पुनरीश्वर कृष्णेन कथितं तत्रकुतः श्रद्धा ? इत्यत आह

अर्थ—अब यदि कोई यह शंका करे कि जो शास्त्र कपिलदेव जी ने कहा हैं, उस पर हमारी श्रद्धा अवश्य बैठेगी, परन्तु जो ईश्वर कृष्णने आर्यायें कहीं हैं, उन पर श्रद्धा कैसे रखें ? परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि—

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पयाप्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥

अर्थ—कपिल मुनी जी ने कृपा करके यह पवित्र व श्रेष्ठ शास्त्र आसुरि मुनि को दिया, आसुरि मुनि ने यह शास्त्र पञ्च शिखाचार्य को दिया, तथा उन्होंने यह अनेक प्रकार के तन्त्र किये।

"एतत्पवित्र"=पावनं=दुःखत्रयहेतोः पाप्मनः पुनातीति, "अग्र्यं" सर्वेभ्यः पवित्रेभ्यो मुख्यम्। "मुनिः"=कपिलः "आसुरयेऽनुकम्पयाप्रददौ आसुरिरपि पञ्चशिखाय, ते न च बहुधा कृतम् तन्त्रम्।

आध्यत्मिक विविध दुःखों के कारण होने वाले पापों से पावन करने वाला यह शास्त्र है, इसी से इसको पवित्र ऐसा कहा है, अग्र याने सब पवित्र पदार्थों में अधिक पवित्र (मुख्य) ऐसा यह शास्त्र कपिल मुनी ने बड़ी दया से आसुरि को दिया, उन्होंने पंचशिख मुनी को दिया, पंचशिख ने उसका बड़ा भारी विस्तार किया।

शिष्य परम्परयाऽऽगतमीश्वर कृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—शिष्य परम्परा से प्राप्त हुआ यह शास्त्र, श्रेष्ठ बुद्धिमान ईश्वर कृष्ण ने सिद्धान्त ज्ञान उत्तम तरह से प्राप्त करके इसका आर्यायों (छन्द) द्वारा थोड़े से में रचा।

आराद् याता तत्वेभ्य इत्यार्या, आर्या मतिर्यस्य सोऽयमार्य मतिरिति।

अर्थ—आर्या याने बिलकुल तत्वों के समीप गई हुई तद्वत् मति है, जिसकी सो आर्य मति=श्रेष्ठ बुद्धिमान कहलाता है, प्रथम कपिल मुनी ने सूत्र रचना की, तथा उन्होंने अपने आसुर नामक शिष्य को दिये, उन्होंने अपने पंचशिख नामक शिष्य को दिये, उन्होने उसका सर्वत्र प्रसार किया और अपने शिष्यों को विस्तृत करके पढ़ाया और वह इसी तरह शिष्य परम्परा से प्राप्त होता हुआ ईश्वर कृष्ण को प्राप्त हुआ, उन्होंने इसका अच्छी तरह से मनन करके आर्याछन्द में कहा है।

एतच्चशास्त्रं-सकल शास्त्रार्थ सूचकत्वान्न तु प्रकरण मित्याह—

अर्थ—यह ग्रन्थ सांख्य शास्त्र ही है, क्योंकि उस शास्त्र का सब अर्थ इसमें सूचित किया गया है, इससे (इसको) शास्त्र का प्रकरण न समझना, ऐसा कहते हैं।

सप्तत्यांकिलयेऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्ठितंत्रस्य।
आख्यायिका विरहिताः परवाद विवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

अर्थ—इन सत्तर आर्याओं द्वारा जो अर्थ कहे गये हैं, वे आख्यायिका तथा निन्दा इन (दोषों) को छोड़कर शेष सब षष्ठि तंत्र (सांख्य शास्त्र) के (तत्व) अर्थ हैं।

तथा च राज वार्त्तिकं—

"प्रधानास्तित्वमेकत्व मर्थवत्वमथान्यथा।
पारार्थ्यं च तथानैक्यं वियोगो योग एव च ॥
शेष वृत्तिरकर्त्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृतादश।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नवतुष्टयः ॥
करणानाम सामर्थ्य मष्टाविंशतिधामतम्।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टभिः सह सिद्धिभिः" ॥ इति

सेयं षष्ठि पदार्थी कथितेति सकल शास्त्रार्थ कथनान्नेदं प्रकरणम, अपितु शास्त्रमेवेदमितिसिद्धम्। एकत्वमर्थवत्वं, पारार्थ्यं च—

प्रधानमधि कृत्योक्तम्, अन्यत्वमकर्तृत्वं-बहुत्वंचेति-पुरुषमधिकृत्य, अस्तित्वं-वियोगो-योगश्चेत्युभयमधिकृत्य, स्थितिः-स्थूल सूक्ष्ममधिकृत्य।

अर्थ—अस्तित्व, एकत्व, अर्थवत्व, अन्यत्व, पारार्थ्यं, अनैक्य, वियोग योग, शेषवृत्ति तथा अकर्तृत्व ये दश मुख्य अर्थ हैं, पांच विपर्यय, नव तुष्टि, अट्ठाइस विध अशक्ति तथा आठ सिद्धि ऐसे सब मिलकर साठ पदार्थ होते हैं, टीकार्थ—सांख्य शास्त्र को मान्य, मूलभूत ये साठ पदार्थ सत्तर कारिकाओं में ईश्वर कृष्ण (मुनी) ने कहा है, शास्त्र के सब तत्वों का प्रतिपादन होने से यह ग्रन्थ प्रकरण (एक भाग) ग्रन्थ न होकर स्वयं शास्त्र रूप हो गया है यह सिद्ध होता है, उपरोक्त वार्तिक श्लोकों में जो एकत्व, अर्थवत्व तथा पारार्थ्य ये तीन अर्थ प्रकृति को लक्ष्य करके कहे हैं व अन्यत्व, अकर्तृत्व, बहुत्व ये तीन अर्थ-पुरुष (आत्मा) को लक्ष्य करके कहे हैं, अस्तित्व, वियोग, योग ये तीन अर्थ-प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों को लक्षित कर कहा है, स्थिति (शेषवृत्ति) स्थूल, सूक्ष्म ये तीन अर्थ प्रपंच को लक्ष्य करके कहा है।

मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ति सतां मुदा।
श्री वाचस्पति मिश्राणां कृतिस्तात्तत्व कौमुदी ॥

अर्थ—श्री वाचस्पति मिश्र जी की तत्व कौमुदी नामक कृति (टीका) चन्द्र ज्योत्स्ना (चांदनी) जैसे कुमुदिनी को विकसित करती है, यह विद्वजनों के चित्त को आनन्द से पुलकित करने वाली हो।

इति षड्दर्शन टीकाकृच्छ्रीमद्वाचपति मिश्र विरचित सांख्य तत्व कौमुदी समाप्ता। पांडेयोपाव्ह पं० लक्ष्मणप्रसाद रसवैद्य कृत भा० टी० समाप्ता ॥

॥ इतिशम् ॥

